लेखक का निवेदन

हमारी वर्तमान शिक्षा में जहाँ बहुत-से गुण हैं वहाँ कुछ दोष भी हैं। उसमें सबसे बड़ी कमी यह है कि विद्यार्थियों को नीति और जीवन सम्बन्धी समस्याओं से अछूता-सा रक्खा जाता है। जहाँ हमारी शिक्षा हमारे विद्यार्थियों के मस्तिष्क को (उन्नत और विकसित तो मैं न कहूँगा) अपक्व ज्ञान का भण्डार बनाती है वहाँ उनके सदाचार-सम्बन्धी संस्कारों तथा सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं के परिपोषण और परिमार्जन की ओर से वह उदासीन-सी रहती है।

प्रस्तुत पुस्तक इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर लिखी गई है कि हमारे विद्यार्थी ऐसे संस्कार बना लें कि जो उनके भावी जीवन-संग्राम में सहायक हों। मनुष्य को भौतिक सफलता प्राप्त करना इतना कठिन नहीं है जितना कि नैतिक उच्चता और उदारता को अपने जीवन का अङ्ग बनाना। इस पुस्तक में सांसारिक सफलता की उपेक्षा तो नहीं की गई है; किन्तु उच्च आशयता और सज्जनोचित व्यवहार की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। भाषा में साहित्यिकता लाने और भारतीय संस्कृति की अनुकूलता प्राप्त करने के साथ इस बात का पूरा ध्यान रक्खा गया है कि भाषा दुरूह न हो जाय जिससे कि हमारे विद्यार्थी इसके लाभ से वञ्चित रहे।

मुझे आशा है कि हमारे नवयुवक इस पुस्तक के आलोक मे अपने संस्कार और अभ्यास निर्माण करने का उद्योग करेंगे और मुझे इस बात की प्रसन्नता और गौरव देंगे कि मेरी यह पुस्तक हमारे भावी राष्ट्र-निर्माताओं के जीवन निर्माण मे किसी स्वल्प मात्रा में भी सहायक हुई।

यद्यपि यह उपदेश ऐसे व्यक्ति से आने चाहिए थे जिसका जीवन सफल और आदर्शमय हो तथापि हमारे पाठक इसके वक्तव्य का मूल्य उसकी नैतिकता और उपयोगिता के आधार पर आंक कर इसको हंस-बुद्धि से अपनायेंगे।

परो अपावन ठौर में कञ्चन तजै न कोय।

गोमती-निवास
दिल्ली-दरवाज़ा
आगरा।

विनीत
गुलाबराय

विषय-सूची

जीवन-पथ

हारिए न हिम्मत बिसारिए न राम

अब जागो जीवन के प्रभात !
रजनी की लाज समेटो तो,
कलरव से उठकर भेंटो तो।
अरुणांचल में चल रही वात,
जागो अब जीवन के प्रभात।

—प्रसाद

यह संसार गुण-दोषमय है। इसमें पाप-पुण्य, दिन-रात हास और रुदन सब कुछ है। इस लहलहाते सागर में रत्न, जवाहर और मोती भी हैं और मनुष्य को साबित निगल जाने वाले मगर और घड़ियाल भी। इसमें प्रेमालाप, मधुर मिलन, हास-परिहास के साथ कलह और संघर्ष भी है। ऐसे संसार में हमारा क्या कर्त्तव्य है ? क्या इससे मुँह छिपा कर भाग जाने और किसी सौरभमय कोने में अवनी के कोलाहल से दूर चादर तान कर सो जाने में हमारा त्राण है या संघर्ष में कूद पड़ने में ? संसार से भागने में हम अगर रुदन और विलाप से बचते हैं तो

हास-विलास से भी वञ्चित रहते है। संघर्ष से यदि हम भाग जाते हैं तो दुनिया में बुराई की शक्तियाँ और भी प्रबल होकर हमारे सामने आयेंगी और हमको आराम-बाग़ में सोने न देंगी। इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि दुनिया के सागर में तिनके के समान भँवरों और लहरों के घात-प्रतिघात में बेवश होकर अपने जीवन को परिस्थितियों के हाथ मे न सौंप दें; वरन् परिस्थितियों से लड़कर सच्चे तैराक की भाँति लहरों पर विजय पाते हुए अपने को कठिनाइयों के सागर से पार ले जायें।

जो मनुष्य प्रसन्न चित्त होकर संसार के लहलहाते सागर में प्रवेश करता है उसको रत्न और घोंघे दोनो ही हाथ लगते हैं; लेकिन उनमें से कुछ रत्न बहुमूल्य होते हैं।

जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूँढ़न गई रही किनारे बैठ॥

इस दुनिया मे देखने और खोजने वाले के लिए पद-पद पर सौन्दर्य-सुषमा है। पक्षियों के कल कूजन में, हिरनों की चंचल चौकड़ी में, विहगों की ऊँची उड़ान में, मछलियों के गतिमय संतरण में सरिताओं के कल-कल निनादमय वारि-विलोडित प्रवाह में, धूम-धुँआरे काजर-कारे बादलो में, अरुणोदय के सुनहले वैभव में, बालकों की तुतली भाषा, किलकारी और करतल की ताल पर थिरकने वाले नृत्य में, श्रमिक के परिश्रम में, चक्की पीसने वाली के मर्मभेदी राग में, विद्यार्थियों के हासोल्लास भरे खेलों में, साहसी लोगों की शैल-शिखरों की चढ़ाई में, यात्रियों के गंगा-स्नान में, जहाँ देखो तहाँ सौन्दर्य की झलक है। इस सौन्दर्य के सागर को छोड़कर आराम बाग़ में, निष्क्रियता की सुखनिद्रा में सोना कायरता ही नहीं वरन् मृत्यु ही है।

इस धरनी के रोम-रोम में
भरी सहज सुन्दरता
इसके रज को छू प्रकाश-
बन मधुर विनम्र निखरता।
पीले पत्ते टूटी टहनी,
छिलके, कंकड़, पत्थर,
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर
लगता सार्थक सुन्दर।

—पंत

महाकवि शेक्सपीयर की विशाल दृष्टि ने वृक्षों में वाणी, पत्थरों में पोथियाँ, नालों में नीति और प्रत्येक वस्तु में कुछ सद्-गुण देखे थे। देखने के लिए सहृदयता चाहिए।

दुनिया मे दुख और संघर्ष अधिक है; किन्तु उसके साथ सुख और शान्ति का अभाव नहीं। अस्पतालों की अपेक्षा होटलों की संख्या अधिक है। जेलो की अपेक्षा क्लब और सिनेमा घरों की बहुतायत है। दुनिया मे सुख की मात्रा अधिक है, यदि न भी हो तो दुनिया को सुखमय बनाना हमारा कर्त्तव्य है। हम संसार के प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ गिने जाते हैं। हमारी सर्व-श्रेष्ठता इसी में है कि संसार को जैसा हमने पाया है उससे अधिक सुखमय बनायें। इसके लिए परिश्रम और संयम की आवश्यकता होगी।

विना सेवा के मेवा नहीं मिलती। वैज्ञानिकों ने प्रकृति की सेवा कर ही उसके रहस्य जाने हैं और उसको वश में किया है। तभी उनके इशारे पर संसार की शक्तियाँ क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर और विद्युत भी नाचने को तैयार रहती हैं।

हमको संसार को समझ कर उसमें हमें अपना कर्त्तव्य निश्चित करने की आवश्यकता है। संसार को समझ लेने पर

वह हमारा बन जाता है। उसके समझने के प्रयत्न करने में ही उसकी शक्ति और दुर्बलता का रहस्य मालूम होता है। अज्ञान और न समझने में ही कुरूपता और भयङ्करता दिखाई पड़ती है। जिस मनुष्य को हम समझ लेते हैं वही मित्र बन जाता है और जिसको नहीं समझ पाते वही शत्रु बना रहता है। समझने के लिए हमको अपने अभिमान को तिलाञ्जलि देनी होगी। शत्रु के पास जाकर उसके साथ रहना होगा तथा उसको अपना बनाना होगा। जो बात प्राकृतिक शक्तियों के लिए है वही मानवी शक्तियों के लिए भी है। प्रयत्न से पत्थर भी मोम हो जाता है। प्रयत्न में सौन्दर्य है, आनन्द है, जीवन है। प्रयत्न की कुञ्जी से ही संसार के खजाने का द्वार खुलेगा, उसका सौन्दर्य दिखाई देगा और उसमें हम अपना कर्त्तव्य निश्चय कर सकेंगे। हृदय में आशा और विश्वास रखकर हमको सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

'हारिए न हिम्मत बिसारिए न राम।'

समाज और व्यक्ति का लेन-देन

मनु ने कुछ-कुछ मुसका कर
कैलाश ओर दिखलाया,
बोले देखो कि यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया ।
हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमी हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है ।

—प्रसाद

मनुष्य का जन्म समाज में हुआ है और समाज से ही वह अपनी जीवन शक्ति प्राप्त करता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि वृक्ष और पौधे पृथ्वी से उत्पन्न होकर उसी से अपनी खाद्य-सामग्री ग्रहण कर बढ़ते रहते हैं। यद्यपि व्यक्तियों से समाज बनता है तथापि व्यक्ति भी समाज से बनता है। हम अपनी समाज से उऋण नहीं हो सकते हैं। हमारा शरीर, भाषा, भेष व खान-पान आहार-विहार आमोद-प्रमोद सब समाज के ही ऊपर निर्भर है। मनुष्य अकेला कमरे में बैठा हुआ मन-मोदक से अपनी भूख बुझाता रहे किन्तु वह हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ नहीं बन सकता। स्वस्थ जीवन के लिए उसे समाज के मुक्त वातावरण में आना पड़ेगा जहाँ संघर्ष में आकर वह शक्ति ग्रहण करेगा। अँधेरे में जमने वाले पौधे कुछ देर के लिए बहुत जल्दी बढ़ते

दिखाई देते हैं किन्तु शीघ्र ही मुर्झा जाते हैं। उसी प्रकार समाज से अलग रहने वाला मनुष्य चाहे बढ़ जाय किन्तु फल-फूल नहीं सकता है। फलने और फूलने के लिए पानी के अतिरिक्त धूप और स्वच्छ वायु चाहिए। समाज के सम्पर्क और संघर्ष से बचना अपने को कमजोर बनाना है। संघर्ष का यह अर्थ नहीं है कि समय-कुसमय लड़ाई झगड़ा ही मोल लेते रहें वरन् यह कि हम समाज और व्यक्ति तथा व्यक्ति-व्यक्ति मे साम्य स्थापित करने का प्रयत्न करते रहें। सत्प्रयत्न ही संघर्ष का सराहनीय रूप है।

समाज से हमारा चाहे संघर्ष रहे फिर भी हम उसके ऋणी हैं। हम उससे स्वतन्त्र नहीं हो सकते हैं। समाज और व्यक्ति का अवयवी और अवयव का-सा सम्बन्ध है; जिस प्रकार शरीर का एक अवयव सारे शरीर से अलग रह कर बढ़ नहीं सकता न वह हृष्ट-पुष्ट हो सकता है उसी प्रकार व्यक्ति समाज से अलग रहकर हृष्ट-पुष्ट नहीं हो सकता। समाज के ही वातावरण में उसकी शक्तियों का विकास होगा। एक आदमी कमरे में बन्द रहकर न बुद्धिमान बन सकता है और न सदाचारी। सदाचार और दुराचार समाज की ही अपेक्षा करते हैं।

जिस प्रकार व्यक्ति समाज पर निर्भर रहता है। उसी प्रकार समाज व्यक्तियो पर आश्रित रहता है एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है; इसलिए हमारा बड़ा उत्तरदायित्व है। यदि हम बुरे बनते हैं तो सारी समाज को बुरा बनाते हैं। यदि हम भले बनते हैं तो स्वयं अपना ही लाभ नहीं करते हैं वरन् सारी समाज का उद्धार करते हैं।

समाज का सुख-दुख हम पर प्रतिफलित होता है। यदि हम दूसरों को सुखी बनाते हैं तो हमारे लिए अनुकूल परिस्थितियाँ

बन जाती हैं। दुखी समाज में हम सुखी नहीं रह सकते हैं। वातावरण का मनुष्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। वातावरण का बनाना हमारे ही हाथ में है। यदि हम अच्छे विचारों, सद्भावनाओं और प्रेम के साथ संसार में प्रवेश करते हैं तो संसार हमारे लिए क्रमशः अनुकूल बनता जायगा। यदि हम घृणा और द्वेष से संसार को देखेंगे तो वे भाव प्रतिध्वनित होकर हमारे पास आयेंगे। संसार एक शीश-महल है जिसमें मनुष्य को अपने ही सैकड़ों प्रतिरूप दिखाई देते हैं। हम यदि उस शीश-महल मे गुर्राते और ताल ठोंकते हुए प्रवेश करेंगे तो सब गुर्राते और ताल ठोकते हुए दिखाई देंगे और यदि हम आलिङ्गन को हाथ बढ़ाये मुस्कराते हुए प्रवेश करेंगे तो संसार हमको इसी प्रकार का दिखाई पड़ेगा। हमारे विचारो का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। पूर्ण अहिंसावादी के आगे हिंसक जन्तु भी अपनी हिंसावृत्ति छोड़ देते हैं। कहा जाता है कि मजनू के पास शेर आकर प्रेम भाव से वैठ जाता था।

इसलिए विश्व के प्रति सद्भावना के साथ और समाज का अपने ऊपर ऋण स्वीकार करते हुए हमको अपना कर्तव्य निश्चित करना चाहिए। हमको पत्थर की न बनकर लकड़ी की नाव बनना चाहिए।

आप तरै तारै अवर, काठ नाव 'चितचाव।
बूड़ै बोरै अवर को, ज्यों पाथर की नाव॥

हमारा कर्तव्य-पथ

'मार्गस्थो न सीदति'

मारग चलते जो गिरै ताको नाहीं दोस।
कह कबीर बैठा रहै ता सिर करड़े कोस॥

—कबीर

चलो सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत कभी मार्ग विस्तीर्ण है॥

—प्रसाद

इस धूप-छांह मय संसार में भेद-अभेद आकर्षण-विकर्षण संयोग-वियोग जीवन और मरण सभी का संयोग है। मनुष्य नयनाभिराम और मनोनुकूल दृश्य देखकर पुलक-मुकलित होता और प्रतिकूल घटनाओं का सामना होने पर दुख से आर्त्त-नाद और करुणा-क्रन्दन करता है। लेकिन कार्यार्थी मनुष्य जीवन की उत्ताल तरंगों के आलोडन-विलोडन और संघर्ष से विचलित नहीं होता है। उसके सामने एक लक्ष्य होता है, उस लक्ष्य को दृष्टि में रख वह अविरल गति से अग्रसर होता रहता है।

इस संसार में अनेक प्रकार की लहरें उठती हैं—कुछ तो सागर के सुलभ सन्तरण में योग देती हैं और कुछ तैराक की गति का अवरोध करती हैं। वे कुशल तैराक को पार जाने से रोक तो नहीं सकतीं किन्तु उसकी गति को मन्द अवश्य कर देती हैं। तैराक भी शक्ति का केन्द्र होने के कारण स्वयं भी लहर का एक रूप होता है। वह तिनके के समान लहर की गति पर निर्भर नहीं रहता वरन् वह भी और लहरों की गति-विधि निश्चित करने में योग देता है।

हमारा कर्तव्य क्या है ? भेद और संघर्ष के रहते हुए भी अनुकूलता और सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते रहना। संसार में व्यवस्था है किन्तु वह सहज में दिखाई नहीं देती है। कर्तव्यशील मनुष्य विघ्न-बाधाओं को हटाकर उनको प्रकाश में ले आता है। संसार सामञ्जस्य चाहता है और वह सहज में ही स्थापित हो सकता है यदि हम स्वयं उसे बिगाड़ न दें। संसार के सामञ्जस्य पूर्ण लक्ष्य को समझकर भेद में अभेद के राम-राज्य के स्थापित करने में योग देना ही हमारा कर्तव्य है।

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना। जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना ॥

सामञ्जस्य स्थापित करने की इच्छा ही सुमति है। सामञ्जस्य ही धर्म है और ईश्वर की इच्छा है। कुमति भेद बुद्धि का पर्याय है। दूसरों की तथा अपनी क्रियाओं को हम ईश्वर की इच्छा के अनुकूल बनाकर इस संसार को ही स्वर्ग बना सकते हैं। उसी को हम राम-राज्य कहेंगे। वही ईसामसीह के शब्दों में पृथ्वी पर खुदा की बादशाहत की स्थापना होगी। सामञ्जस्य के लिए यह जरूरी नहीं कि भेदों का अभाव हो जाय और सब एक मत हो जायँ वरन् यह कि भेद रहते हुए भी पारस्परिक विरोध न रहे, लोग एक दूसरे के मत का आदर करें और यथासम्भव संघर्ष को न्यूनातिन्यून कर दें।

संसार मे सामञ्जस्य स्थापित करने वाली बुद्धि का स्थान प्रेम के अथाह-सागर मे है जो प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे नैसर्गिक रूप से वर्तमान रहता है। प्रेम के इस स्रोत के प्रवाहित होने में हमारा स्वार्थ बाधक होता है। हमारी संकुचित दृष्टि का ही स्वार्थ हमारे प्रेम-मार्ग मे बाधक होता है। उदार दृष्टि से स्वार्थ भी परार्थ बन जाता है। हमको अपनी दृष्टि व्यापक बनाकर सारी मानवता के स्वार्थ से अपने स्वार्थ का सामञ्जस्य करना ही

हमारा धर्म है। चोरी करना चोर का स्वार्थ अवश्य है किन्तु वह जिसके घर चोरी की जाती है उसके स्वार्थ से टकराता है। मेहनत करके रुपया पैदा करने में हमारे स्वार्थ की भी सिद्धि होती है और दूसरे के भी।

संकुचित स्वार्थ से बचने के लिए ही हमको प्रेम और ममता में भेद करना पड़ता है। ममता अपने को ही देखती है। प्रेम दूसरे का भी स्वार्थ देखता है। इतना ही नहीं वह अपने स्वार्थ को विश्व के स्वार्थ के लिए बलिदान भी कर देता है।

अपने पराये का भाव ही ममतामय स्वार्थ का मूल है। अर्जुन को इसी ममता ने कर्तव्य-पथ से विचलित कर दिया था तभी उसने अपना गाण्डीव धनुष रख दिया था और कहने लगा था।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव
न च श्रेयोनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥

अर्थात् मेरे अंग शिथिल हो रहे और मुँह सूख रहा है। मेरे शरीर में कपकपी चढ़ रही है और रोमांच खड़े हो गये हैं हे केशव ! मैं अपने सामने विपरीत लक्षणों को पाता हूँ अपने स्वजनों को युद्ध में मारकर श्रेय को नहीं देख रहा हूँ।

भगवान् कृष्ण ने उसको व्यापक धर्म और कर्तव्य का मार्ग बतलाया। कर्तव्य मे ममता बाधक नहीं हो सकती है। कर्म करने वाला नीति-निपुणों की निन्दा-स्तुति की परवाह नहीं करता। उसको इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि उसके पास धन बना रहे या चला जाय, वह आज ही मर जाय या युगान्तर तक जीवित रहे, वह धीर पुरुष न्याय-पथ से एक क़दम भी नहीं हटता है, देखिए :—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदिवा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्ठम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पद न धीराः ॥

इस न्याय-पथ के अनुसरण में पग-पग पर बाधाओं का सामना करना पड़ता है। कर्तव्य का मार्ग कंटकाकीर्ण मार्ग है। कर्तव्य स्वयं सुन्दर है किन्तु उसके मार्ग में भीषणता और असुन्दरता भी रहती है। संसार विहार का उद्यान नहीं है जिसमें सब सुन्दर ही सुन्दर दिखाई पड़ता है इसमे फूल भी हैं और काँटे भी। मनोमुग्धकारिणी सुरम्य मूर्तियाँ भी है और मरघट के मसान भी। किन्तु सुन्दर और असुन्दर मन का खेल है— 'समै-समै सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोय, जाकी रुचि जेती जितै ताकी तेती होय' रुचि और प्रेम कुरूप को भी सुन्दर बना देता है। कर्तव्यशील मनुष्य के लिए सारा संसार पुष्पोद्यान बन जाता है।

कर्तव्य-पथ मे विफलता का भी सामना करना पड़ता है किन्तु वे विफलताएँ ऊँचे चढ़ने के सोपान का काम देती हैं। उनसे हमारा बल बढ़ता है। विशाल शिलाओं और पर्वतों से समुद्र का वेग घटता नहीं वरन् बढ़ता ही है। कठिनाइयों के विना विजयश्री का सुख और सौभाग्य कहाँ ? साहसी कर्मवीर के आगे विघ्न-बाधाएँ नहीं ठहरतीं, देखिए :—

देख उत्ताल तरगों को
कर्म-रत कब घबराता है।
शक्ति कुम्भज-सी धारण कर
पयोनिधि को पी जाता है।

—हरिऔध

आदर्श-जीवन

"वैराग्य साधने मुक्ति, से आमार नय,
असंख्य बन्धन माझे महानन्दमय लभिव मुक्तिर स्वाद"
—कवीन्द्र रवीन्द्र।

विश्व-प्रेम के बन्धन में ही मुझको मिला मुक्ति का द्वार।
—गोपालशरणसिंह।

हमारा जीवन किस प्रकार सार्थक बन सकता है? इस प्रश्न के उत्तर के पूर्व हमको जीवन का लक्ष्य समझने की आवश्यकता है। यहाँ पर विवाद खड़ा हो जाता है; कोई कुछ कहता है और कोई कुछ—'अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग'। किन्हीं शास्त्रों का सिद्धान्त है कि 'मुक्ति निरादर भगति लुभाने' के आदर्श के लिए मानव-जीवन को सयत्न होना चाहिए लेकिन दूसरे कहते हैं कि इतने महान् विद्वान् और योगियों से जो विन्ध्याटवी की किसी गहन-गुफा मे पड़े रहते हैं संसार को क्या लाभ? हमारी समझ मे मानव-जीवन का ध्येय ईश्वरप्रदत्त शक्तियों का पूर्ण विकास और समाज को हर प्रकार से उन्नत बनाने में योग देना ही है। इस लक्ष्य की प्राप्ति मे आवश्यक है—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति।

भारतवर्ष मे मनीषियो ने इस ओर भी अपनी दृष्टि फेरी थी। उन्होंने अपने धर्म-ग्रन्थों मे बन्धन और मुक्ति के बीच का मार्ग खोज निकाला था। उन्होंने मनुष्य जीवन को चार भागों में विभक्त कर दिया था। ये आश्रमो के नाम से प्रख्यात हैं। ये चार

आश्रम इस प्रकार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इन चारों आश्रमों को यथाविधि पालन करने पर मनुष्य आदर्श जीवन व्यतीत कर सकता है।

ब्रह्मचर्य मनुष्य जीवन का पहला आश्रम है। इसमें मनुष्य अपने भावी जीवन को तैयारी करता है ब्रह्मचर्य पालन कर वह अपने शरीर में शक्ति-संचय करता है जो भावी-संघर्ष में काम दे सके और शिक्षा को विधिवत प्राप्त करता है जिससे भावी-आपद्-विपत्तियों का निदान हो सके। शिक्षा द्वारा वह शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के साधनों को प्राप्त करता है। इस आश्रम में किशोर दूसरों के प्रति सद्व्यवहार, आज्ञा-पालन सहनशीलता, सेवा तथा आदर भाव आदि सद्गुणों का अभ्यास कर लेता है। इस आश्रम के किये हुए अभ्यास जीवन पर्यन्त काम आते है। कुम्हार अपनी मिट्टी को जितना ही अधिक बनाता है उससे उतने ही सुन्दर भाण्ड बनते है। इस जीवन मे जितने ही सद्गुणों का अभ्यास किया जाता है भावी जीवन उतना ही सरल एवं सरस हो जाता है। यह जीवन सम्पूर्ण मानव जीवन का प्रवेश-द्वार है। इसके नष्ट हो जाने पर जीवन का निर्वाह तक कठिन हो जाता है! हमको संसार में ऐसे बहुत से लोगो से भेंट हो जाती है जो इस जीवन से निराश हो गये हैं। वे कहते हैं कि जिन्दगी अब तो भार होगई है, जेठ की दुपहरी के समान काटे नहीं कटती। जब उनके पिछले जीवन पर दृष्टिपात किया जाता है तो ज्ञात होता है कि ये तो दिवालिए हैं। इन्होने अपने ब्रह्मचर्य जीवन मे सञ्चय तो कुछ नहीं किया उल्टे सोते ही रहे हैं।

शारीरिक-गठन के लिए उपयुक्त समय ब्रह्मचर्य आश्रम ही है। स्वास्थ्य के खो जाने पर आदमी कुछ कर पाता है, यह

विवादग्रस्त विषय है। व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों का पूर्णतया पालन स्वास्थ्य पर ही निर्भर है। स्वास्थ्य के लिए नियम पालन और आत्म संयम की विशेष आवश्यकता है। आहार-व्यवहार का भी किसी अंश तक सराहनीय योग है। हमको अपने समय का ऐसा विभाजन करना चाहिए कि जिसमें धनोपार्जन, सामाजिक एवं पारिवारिक कर्तव्य पालन, आमोद-प्रमोद, स्वास्थ्य रक्षा और धार्मिक कृत्यों के लिए स्थान रहे, और फिर उसके अनुकूल चलना चाहिए।

निद्रा स्वास्थ्य के लिए परम आवश्यक है तथापि उसको प्रातः पर्यटन से लाभ उठाने में बाधक न होना चाहिए। इसी प्रकार आहार-व्यवहार भी नियमित होने चाहिए।

दूसरा आश्रम गृहस्थ आश्रम है। यह सब आश्रमों में श्रेष्ठ है क्योंकि इसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि हो सकती है और अन्य सब आश्रमों का पालन भी हो सकता है। मनु महाराज ने गृहस्थाश्रम की प्रशंसा में साफ-साफ कह दिया है कि सब आश्रम गृहस्थ आश्रम के उसी प्रकार अधीन हैं जिस प्रकार समस्त जीवधारी वायु के आधीन हैं।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः

गृहस्थाश्रम का समारम्भ विवाह से होता है। हिन्दुओं में विवाह एक धार्मिक संस्कार माना गया है। आदर्श जीवन के व्यतीत करने के लिए पति-पत्नी सहयोग की परम-आवश्यकता है। पुरुष के लिए स्त्री की और स्त्री के लिए पुरुष की आवश्यकता केवल काम-वासना की तृप्ति के लिए ही नहीं होती वरन् मानसिक और आध्यात्मिक सहयोग के लिए होती है। सीता के

निर्वासित कर देने पर राम ने अश्वमेध यज्ञ में उनकी स्वर्ण-प्रतिमा की स्थापना की थी क्योंकि हमारे धर्म-शास्त्रों का भी यही मत है कि पुरुष का स्त्री के विना कोई भी धर्म कार्य्य पूर्ण नहीं होता । राम को राज्य देने के पूर्व दशरथ ने कैकेयी से परामर्श नहीं लिया उसका परिणाम क्या हुआ ? दशरथ को प्राण त्यागने पड़े ; राम को वनवास में बीहड़ वनों की खाक छाननी पड़ी, परमसनेही भरत को त्यागी का जीवन व्यतीत करना पड़ा और कैकेयी को पश्चाताप की अग्नि में जलना पड़ा । इस कारण पति-पत्नी का सहयोग आवश्यक है क्योंकि स्त्री पुरुष की शक्ति है और उसका अधिकार पुरुष के वामभाग पर है। सीताराम, राधेश्याम, पार्वती-परमेश्वर ही कहते हैं । राम-सीता कहकर कोई नहीं स्मरण करता इसीलिए तो भारतेन्दु को लिखना पड़ा 'सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के'। इतनी बड़ी महान् शक्ति को भी लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और कभी-कभी अपनी ताकत की आजमाइश भी कर बैठते हैं। लेकिन उनको मालूम होना चाहिए कि पति-पत्नी परस्पर अनुकूल होने से एक दूसरे के कार्य्यों में सहायता ही नहीं मिलती वरन् अपने-अपने प्रेममय व्यवहार से एक दूसरे का जीवन भार भी हलका होता रहता है। गान्धी को गान्धी बनाने में कस्तूरबा का भी कुछ हाथ है।

गृहस्थाश्रम ही मानसिक उन्नति के लिए उपयुक्त काल है। इस काल में धनोपार्जन की प्रवृत्ति जाग उठती है। हमको अपनी आजीविका इस प्रकार की रखनी चाहिए जो धर्म के विरुद्ध न हो और जिससे देश और समाज को हानि न पहुँचे। धनोपार्जन हम इसलिए नहीं करते कि हमारा एकमात्र ध्येय ही धनोपार्जन है। धनोपार्जन हम इसलिए करते हैं कि हम अपने कर्तव्यों

पूर्णतया पालन कर सकें। जीविका उपार्जन में बहुत से लोग आलस्य और प्रमाद से काम लेते हैं क्योंकि उनका कथन है कि रुपया तो हमको मिल ही जावेगा। तब फिर क्यों परिश्रम किया जाय। आफत की भांति उसे टालते रहते है। एक अध्यापक थे। वे कहा करते थे कि मैं तो भाई कुछ पढ़ाता-लिखाता नहीं हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ मेरा पढ़ाया-लिखाया कलक्टर नहीं होता परन्तु वे कर्तव्य-पालन की अपूर्व प्रसन्नता को नहीं जानते थे।

कर्तव्य-पालन में बेईमानी का सहारा नहीं लेना चाहिए क्योंकि बेईमानी से अर्जित धन स्थायी नहीं होता और उससे उतनी प्रसन्नता भी नहीं होती जितनी कि ईमानदारी से कमाये हुए धन से होती है। दूसरे बेईमानी से कमाया हुआ धन सदैव दुर्गुणों की वृद्धि से व्यतीत होता है क्योंकि बेईमान की आँख सदैव नीची ही रहती है। बेईमान मनुष्य सदैव आशंकित रहता है और वह डर से अपना भीतर भी खोखला कर लेता है।

गृहस्थाश्रम मे व्यसनो के लिए भी स्थान है लेकिन ये व्यसन ऐसे न हों जिनसे शारीरिक, नैतिक और आर्थिक हानि की सम्भावना हो। संगीत, चित्रकारी आदि कला सम्बन्धी व्यसन मनुष्य जीवन मे एक अपूर्व सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं। जीवन के भारी क्षण भी उनके कारण हलके हो जाते हैं क्योंकि उनसे मानसिक तुष्टि मिलती है। अगर इस प्रकार ललित कलाओं के अनुशीलन मे घर के सब ही आदमी योग देना आरम्भ कर दें तो घर क्या स्वर्ग हो जावे। मनुष्य का मन कभी शान्त नहीं होता क्योंकि 'जन-मन मौन नहीं रहता' वह 'आप आपसे है कहता' और 'आप आपकी है सुनता।' ऐसे समय इन सद्-व्यसनो में समय जाय तो बुरे विचार नहीं उठ पाते और आत्म-संयम का पथ यद्यपि असिधार पर चलना है तव भी वे

उसके मार्ग में बाधक नहीं होते हैं। मनुष्य निराशाजन्य विचारों से भी मुक्ति पा जाता है। लेकिन हमारे ये सद्व्यसन हमारी आजीविका मे किसी तरह की बाधा न उपस्थित करें, नहीं तो सङ्गठित जीवन मे अस्त-व्यस्तता का स्वच्छन्द राज्य हो जावेगा।

गृहस्थाश्रम में हमको केवल अपनी ही चिन्ता नहीं रहती वरन् सारे परिवार का ध्यान रखना पड़ता है। हमारा कोई कार्य या वचन ऐसा न होना चाहिए जिससे अभिमान की गन्ध आने लगे और दूसरे के चित्त को आघात लगे। दूसरों के मन को आघात पहुँचाना भी हिंसा करना है। पारिवारिक जीवन में हमको इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम एक दूसरे के दुख के लिए उत्तरदायी है क्योंकि पारिवारिक प्रसन्नता के नष्ट होने पर हम अपनी प्रसन्नता की खिचड़ी अलग नहीं पका सकते। इस कारण जीवन में ऐसे अवसर ही न आवें जिनसे गृह-कलह उत्पन्न होने की आशंका हो। हमको ऐसा जीवन व्यतीत करना चाहिए जिससे हम प्रसन्नता, सुख और शान्ति के केन्द्र बन जावें। श्री जयशंकरप्रसादजी ने पारिवारिक जीवन का कितना सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है:—

> बच्चे बच्चों से खेलें हों मोद बढ़ा उनके मन मे,
> कुल लक्ष्मी हों मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में।
> बन्धुवर्ग हों सम्मानित, हों सेवक सुखी प्रणत अनुचर
> शांति पूर्ण हो स्वामी का मन तो स्पृहणीय न हो क्यों घर॥

अन्तिम दो आश्रम धर्म और मोक्ष के साधन हैं। वानप्रस्थ में मनुष्य को गृहस्थी का त्याग नहीं करना पड़ता। उसको धनो-पार्जन से विराग लेना होता है और अपना समय समाज-सेवा और आध्यात्मिक उन्नति के कार्यों मे लगा देना पड़ता है

संन्यास में मनुष्य गृहस्थी का भी त्याग कर देता है और मोक्ष प्राप्ति में लग जाता है।

वानप्रस्थ-आश्रम ही आध्यात्मिक उन्नति के लिए उपयुक्त काल है। दूसरों की सेवा के लिए बहुत अधिक समय और अवसर मिलता है जो मानव जाति के प्रति सहानुभूति का जागरण करता है। सेवा द्वारा कोमल भावनाओं का उदय होता है। सहन-शीलता बढ़ती जाती है और जिनकी हम सेवा करते हैं उनके प्रति हमारा रागात्मक सम्बन्ध दृढ़ होता जाता है।

सेवा भाव के अतिरिक्त इस आश्रम में ईश्वराराधन के लिए भी समय मिलता है। इसमें ईश्वर सम्बन्धी तत्त्वाध्ययन का काम करना चाहिए जिससे संन्यास में मोक्ष प्राप्ति मे उन गुणों का विकास हो सके और मोक्ष प्राप्ति का मार्ग सरल हो जावे।

संन्यास के सम्बन्ध में कुछ लोगो का ऐसा मत है कि मनुष्य को हर चीज़ से संन्यास लेकर ईश्वराराधन मे तल्लीन हो जाना चाहिए। लेकिन कुछ लोग इसे आवश्यक नहीं मानते उनका कहना है कि संन्यास का अर्थ संन्यास या बिलकुल त्याग नहीं है। संन्यास का अर्थ हमको अपने व्यक्तिगत लाभ, सुख और दुख के विचारो का त्याग कर परोपकार के कार्य्य में लग जाना है। समाज सेवा भी एक प्रकार की ईश्वर सेवा है क्योंकि ईश्वर और ईश्वर की सृष्टि मे भेद नहीं है।

संक्षेप में वह जीवन आदर्श जीवन है जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सबका एक-सा समन्वित साधन हो सके और जो व्यक्ति और समाज के सामंजस्य सम्बन्ध को दृढ़ कर सके। आदर्श जीवन में मनुष्य की आन्तरिक वृत्तियो का, इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सामंजस्य के साथ व्यक्ति-व्यक्ति का भी सामंजस्य रहता है।

सन्तुलनमय जीवन ही सात्विक और आदर्श जीवन है। मनुष्य की इच्छाएँ कर्म को बल देती हैं ज्ञान इच्छाओं को परिमार्जित करता है और कर्म इच्छा और ज्ञान की अभिव्यक्ति कर ज्ञान को सार्थकता प्रदान करता है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया का सामंजस्य ही प्रसाद जी की कामायनी का आदर्श है। इनके पार्थक्य में ही जीवन की विफलता है।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

कामायनी में बतलाया गया है श्रद्धा (भावना) और तर्क (बुद्धि) के संयोग में मानव का कल्याण है। मनुष्य को बुद्धि से काम लेना आवश्यक है किन्तु श्रद्धा को भी न खोना चाहिए।

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब संताप निचय,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय।

आत्मोन्नति

'उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।'

अर्थात् आत्मा का उद्धार आत्मा द्वारा ही होता है, इसलिए आत्मा को नीचा मत बनाओ ।

नहीं झिझकती है दीपावलि अंध-प्रभा में आने से
गिरकर पंकिल भी ओ घन-जल किसे नहीं तू भाता है ?

हम इस संसार में खान से निकले हुए मिट्टी-धूल भरे सोने के समान आते हैं। सोने को दूसरे लोग तपा-गला कर शुद्ध करते हैं और उसको मूल्यवान कंचन का रूप देते हैं। हम सोने की भाँति जड़ नहीं हैं। हम सचेतन और क्रियाशील हैं। हमको अपना उद्धार और सुधार आप ही करना चाहिए। हमारे मित्र हमको सलाह दे सकते हैं, गुरु हमको शिक्षा दे सकते हैं किन्तु उस सलाह और शिक्षा पर चलना हमारा काम है। अँग्रेजी मे एक मसला है कि एक आदमी घोड़े को पानी तक ले जा सकता है किन्तु दस आदमी उसे पानी पिला नहीं सकते हैं। (अगर वह न पीना चाहे) इसी प्रकार हम यदि मूर्ख और हठी हैं तो यदि ब्रह्मा भी गुरु मिलते है तो हम सुधर नहीं सकते है। तुलसी-दासजी ने कहा है:—

फूलहिं फलहिं न बेत जदपि सुधा बर्षहिं जलधि ।
मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलहिं विरंच सम ॥

आज-कल का मनोविज्ञान ऐसा तो नहीं मानता कि बुरे

लड़के का सुधार नहीं हो सकता फिर भी सुधार में सुधारे जाने वाले की सहकारिता अत्यन्त आवश्यक है। विना संकल्प और अभ्यास के सुधार नहीं हो सकता है। उसमे दृढ़ता की भी जरूरत है। जहाँ जरा फिसले, जहाँ जरा लालच में आये और आरामतलवी की ओर झुके वहाँ वर्षों की साधना धूल में मिल जाती है। मकान को बनाने की अपेक्षा उसका ढा देना सहज है।

उन्नति का मार्ग दुर्गम है। वह ऊँचे पहाड़ की चढ़ाई के समान है। आकर्षण, लालच और आलस्य का हमको पद-पद पर सामना करना पड़ेगा। इन सब से बचकर हम यदि आगे बढ़ गये तो हमारी उन्नति और हमारा उत्थान निश्चित है। अगर हम आलस्य में आगये तो खरगोश की भाँति तेज होते हुए भी कछुए से बाजी हार जायँगे।

हमको अपनी उन्नति को सर्वाङ्गी बनाना है। जैसा कि हम आदर्श जीवन के प्रसङ्ग में कह चुके हैं हमको भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की उन्नति करना आवश्यक है। भौतिक उन्नति के साथ मानसिक उन्नति भी अनिवार्य है। हमारी उन्नति का रूप ऐसा होना चाहिए कि उसमें भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति का सन्तुलन रहे। मेघनाद या कुम्भ-करण की भाँति भौतिक उन्नति कर ले और चाहे रावण की भाँति मानसिक उन्नति भी कर लें तो विना शील और चरित्र के साक्षर होकर राक्षस ही बने रहेंगे। चरित्र भ्रष्ट होकर मानसिक उन्नति भी कोई मूल्य नहीं रखती है।

हमारी आधुनिक शिक्षा में केवल मानसिक उन्नति पर ही ध्यान दिया जाता है, सो भी पूरी तौर से नहीं। उससे विचारों को सजीव और उपजाऊ बनाने की अपेक्षा ज्ञान को अलमारी की पुस्तकों की भाँति ठूँस-ठाँस कर भर देने की ओर अधिक

प्रवृत्ति रहती है। हमारा ज्ञान गुलदस्ते के फूलों की भाँति चार दिन की चटक और शोभा दिखाकर परीक्षा के बाद परिम्लान हो जाता है। भौतिक उन्नति भी जो हमारे शिक्षालयों में कराई जाती है वह स्फूर्ति और साहस नहीं उत्पन्न करती। आध्यात्मिक उन्नति शील और चरित्र की ओर तो ध्यान ही नहीं दिया जाता। हमको स्कूली शिक्षा के अतिरिक्त अपनी उन्नति का बीड़ा आप ही उठाने की जरूरत है। यह उन्नति का क्रम आजीवन चलता रहेगा। आत्मशिक्षण का स्कूल कभी बन्द नहीं होता है किन्तु जितना आत्मशिक्षण विद्यार्थी अवस्था में हो जाता है उतना उमर भर काम देता है। बुनियाद मज़बूत हो जाने से इमारत चाहे जितनी ऊँची उठाई जा सकती है। बालकपन मे पड़े हुए संस्कार और अभ्यास उमर भर काम देते है।

बालकपन मे हमारा स्नायु-संस्थान (Nervous system) अधिक सम्वेदनशील और प्रभावो को ग्रहण करने के लिए मोम की भाँति मुलायम होता है। बड़े हो जाने पर जो संस्कार बन जाते हैं वे सहज में मिटते नहीं हैं। नये संस्कार बनाने के लिए हमको पहले संस्कारो और अभ्यासों से लड़ना पड़ता है। अगर पहले संस्कार प्रबल हुए तो पीछे का सदुपदेश और सत्संकल्प भी काम नहीं देता है; इसलिए हमको चाहिए कि बाल्यावस्था में ही अपने उन्नति-क्रम को आरम्भ करके एक निश्चित दिशा में ले जायँ। इसमे हमको अपने स्नायु संस्थान की सम्वेदनशीलता और ग्राहकता का पूरा लाभ मिल सकेगा। छोटे वृक्ष की टहनी को जिधर झुका दो उधर झुक जायगी किन्तु वृक्ष के बड़े हो जाने पर उसको रूप और आकार देना कठिन हो जाता है।

आत्मोन्नति के लिए आत्मविश्वास भी आवश्यक है। हमको कभी अपने मे हीनता-भाव को न आने देना चाहिए। अपने को

नीचा और गिरा हुआ समझना ही आत्मा को दुखी बनाना है। जिसे अपनी शक्तियों में विश्वास है वह सब कुछ कर सकता है और जो पहले से ही कंधा डाल देने की प्रवृत्ति रखता है वह रोता हुआ जाता है और मरे की खबर लाता है। ऐसा मनुष्य जो अपने में विश्वास नहीं रखता, जिसके हृदय में बल और साहस नहीं है वह कभी सफल नहीं बन सकता है।

जीवन को उन्नत बनाने के लिए न तो मनुष्य को आत्म-विश्वास को खोना चाहिए (हृदयदौर्बल्य भौतिकदौर्बल्य से भी अधिक घातक है) और न उसे अहंमन्य हो जाना चाहिए। अहंमन्यता आत्मविश्वास का दूषित छोर है। जो लोग यह समझते हैं कि हम सब कुछ जानते हैं, हम पूर्ण सदाचारी और न्यायी हैं और हमारे लिए कुछ जानना और करना शेष नहीं है वे अपनी उन्नति का द्वार बन्द कर चुके हैं।

उन्नति के लिए आत्मविश्वास के साथ सदा अग्रसर होते रहने की जरूरत है। हमको अजर और अमर समझ कर विद्या और अर्थ की चिन्ता करना चाहिए 'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्' और 'गृहीत इव केशेषु मृत्युनाधर्ममाचरेत' की बात याद रखते हुए धर्म का आचरण करना चाहिए।

"गया वक्त फिर हाथ आता नहीं"। अवसर चूका सो चूका। अपने समय का सदुपयोग करते हुए आत्मविश्वास के साथ उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ना हमारा कर्तव्य है। हमको ऐसा विचार कभी पास भी न आने देना चाहिए कि हम मूर्ख हैं, पापी हैं, पतित हैं हमारा उद्धार होना कठिन है। अभ्यास के आगे सब सुलभ हो जाता है। अभ्यास ही मूक को वाचाल बना देता है। हकले आदमी भी बड़े भारी वक्ता हो गये हैं। यूनान में एक बड़ा भारी वक्ता (शायद उसका नाम केटो) था शुरू में हकलाता

था। फिर वह अपने मुँह में कंकड़ डालकर समुद्र के किनारे चला जाता और लहरों के गरजने की प्रतिस्पर्धा करता हुआ गरजता और वक्तृता देता था। इस प्रकार वह बड़ा भारी वक्ता बन गया। संसार में जो बड़े आदमी हुए हैं आरम्भ से ही प्रतिभावान न थे, होनहार बिरवान के होत चीकने पात की बात बहुत अंश में ठीक है किन्तु बाँध बाँधने से छोटी नदी में भी जलका आधिक्य दिखाई देने लगता है और उससे नहर निकाली जा सकती है। अभ्यास से मूर्ख भी विद्वान् हो सकता है, वृन्द कवि ने कहा है :—

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात तें, सिल पर होत निसान॥

सफ़ाई और व्यायाम

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'

अर्थात् शरीर रक्षा धर्म का पहला साधन है।

'A Sound mind in a sound body'

'तन्दुरुस्ती हजार नियामत'

शरीर रक्षा को धर्म का पहला साधन बतलाया गया है। इस संसार मे हम जो कुछ करते हैं वह शरीर द्वारा ही करते हैं। शरीर आत्मा का मन्दिर है। उसको भी स्वच्छ पवित्र और दृढ़ रखने की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि किसी देव मन्दिर की।

शरीर रक्षा के लिए सफाई और स्वास्थ्य अत्यन्त आवश्यक है। सफ़ाई के लिए अँग्रेज़ी मे कहा गया है कि सफ़ाई ईश्वरता से दूसरा दर्जा है। सफाई मे शरीर की सफाई के साथ वस्त्रों और घर की भी स्वच्छता आती है। शरीर की सफाई के लिए स्नान सब से आवश्यक है। जहॉ तक स्वास्थ्य सहारा दे ठंडे पानी से नहाने का अभ्यास डालना चाहिए और प्रातःकाल ही स्नान कर लेना वाञ्छनीय है। उससे सारे दिन स्फूर्ति रहती है। हॉ इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि हम स्नान के समय अपने को ठंडी हवा से बचावें और भोजनादि के बाद स्नान न करें। इसीलिए स्नान करके भोजन करने का आदेश दिया जाता है।

स्नान से पूर्व हमको अपने पेट, दाँतों, जिह्वा आदि को स्वच्छ बना लेना आवश्यक है। अंग्रेजी ढंग के बुरुश शुद्ध नहीं रह सकते हैं। और साफ न रहने के कारण वे रोग के उत्पादक बन जाते हैं। दातुन विशेष कर नीम या बबूल या मौलसिरी की विशेष लाभदायक होती है। आजकल की प्रथा के अनुसार कुछ लोग बिस्तरों पर ही चाय पीने का अभ्यास डाल लेते हैं। चाय तो वैसे भी हानिकारक है किन्तु बिना दन्तधावन किये चाय पीना रात भर की गंदगी को पेट मे ले जाना है।

कपड़ों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे रेशमी ही हों। बहुत से लोग रेशमी कपड़े इसलिए पहनते है कि वे जल्दी मैले नहीं होते। वास्तव मे वे मैले तो होते ही है, शरीर का पसीना और मल उनमे भिद जाता है किन्तु वे सहज मे मैले दिखाई नहीं देते। वस्त्रों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे मैले दिखाई न दें वरन् उनको मैला होना भी न चाहिए। कपड़े स्वयं धो लेने का अभ्यास हो जाय तो सर्वोत्तम है। उसमें नित्य की सफाई के साथ थोड़ा व्यायाम भी हो जाता है और हाथ से काम करने का अभ्यास भी बढ़ जाता है।

वस्त्रों की सफाई के पश्चात मकान की सफाई आती है। जिस प्रकार आत्मा के लिए शरीर की शुद्धता आवश्यक है उसी प्रकार शरीर के लिए मकान की सफाई आवश्यक है। मकान के लिए हवादार होना अनिवार्य है। लोग चोरों के भय से मकान को सन्दूक बनाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु चोर हमारी इतनी हानि नहीं करते जितनी कि बन्द मकान। बन्द मकानों मे सूर्य का प्रवेश न होने के कारण सील बनी रहती है और उनमे रोग के कीटाणु भी ख़ूब पनपते है।

मकान के हवादार होने के साथ ही उसकी झाड़-पोंछ भी आवश्यक

है क्योंक बिना झाड़-पोंछ के वस्तुओं पर धूल जम जाती है और वे गन्दी दिखाई देती हैं। उनसे अरुचि उत्पन्न होती है और धूल में रोग के कीटाणु पालित-पोषित होते रहते हैं। झाड़-पोंछ से कीटाणु एक स्थान में आनन्द से बैठने नहीं पाते और उनकी मृत्यु भी हो जाती है। मकान पर सफेदी और अगर फर्श पक्के न हो तो गोबर-मिट्टी से लीपना रोग के कीटाणुओं का शमन करता है।

मकान को साफ रखकर उसको सुरुचि के साथ सुव्यवस्थित और अलंकृत रखना भी आवश्यक है किन्तु मकान के अलङ्करण तसवीरें गुलदस्ते आदि इतने अधिक न होने चाहिए कि वे धूल और गन्दगी के अड्डे बन जायँ। सुव्यवस्थित घर से हमको प्रसन्नता मिलती है और हमारे कार्यों में कुशलता और सुलभता प्राप्त होती है। वातावरण का मन पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है।

शरीर-रक्षा के लिए नियमित आहार-विहार, समय पर सोना और जागना संयत और सात्विक भोजन के साथ व्यायाम भी अत्यन्त आवश्यक है। जो लोग साल भर कुछ नहीं पढ़ते और इम्तहान के दिनों में रात-रात भर जगते है वे अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ लेते है। आलस्यवश देर तक चारपाई पर पड़ा रहना भी उतना ही हानिकारक है जितना कि रात का न सोना। Early to bed and early to rise makes a man healthy, wealthy and wise. समय पर सोना और जागना मनुष्य को स्वस्थ, धनवान और बुद्धिमान बनाता है।

भोजन हमको उतना ही करना चाहिए जितना कि हम पचा सकें। हमको जीने के लिए खाना चाहिए न कि खाने के लिए जीना चाहिए—We should eat to live and not

live to eat. महात्मा गांधी कितना कम खाते है और फिर भी भारत की राजनीति के सूत्रधार बने हुए हैं। स्वाद के लिए भोजन को अधिक गरिष्ट या चटपटा बना लेना हानिकारक सिद्ध होता है। अधिक मसाले भी पाचन शक्ति को कम कर देते हैं। भोजन में शाक-पात और फलों का अधिक प्रयोग वाञ्छनीय है। उन देशों की दूसरी बात है जहाँ अन्न कम पैदा होता है किन्तु माँसाहार स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक लाभदायक नहीं है वरन् हानिकारक ही हैं। उससे स्वभाव में तामसवृत्ति जाग्रत हो जाती है और क्रोध तथा आलस्य की मात्रा बढ़ जाती है।

व्यायाम नियमित होना चाहिए। उसमें भी अति सर्वत्र वर्जयेत का नियम लागू होता है। व्यायाम मे हमको यह जरूरी नहीं है कि किसी विशेष प्रकार का ही व्यायाम किया जाय। विदेशी खेल अधिक व्यय-साध्य हैं किन्तु उनमे सामाजिकता अधिक आती है। यह सामाजिकता देशी खेलों में भी लाई जा सकती है। व्यायाम शरीर को पुष्ट और वलिष्ट रखने का साधन मात्र है; वह जीवन का साध्य नहीं है। हमारा व्यायाम यदि हममे से आलस्य को दूर नहीं कर सकता तो निरर्थक है। वहुत से वड़े-वड़े खिलाड़ी चाहे एक मील की दौड़ मे वाजी ले जायँ, लेकिन चारपाई से उठकर अपने आप पानी पी लेने मे भी आलस्य करते हैं। यह प्रवृत्ति उनके खिलाड़ीपन की विडम्वना है, सच्चे खिलाड़ी को आलस्य के त्याग के साथ विफलता से न विचलित होना, दूसरों के साथ उदारता का व्यवहार आदि मानसिक गुणों का भी अपने मे अनुशीलन करना चाहिए।

अपने हाथ से कुछ काम करना जैसे पानी भरना, वोझा उठाना, मकान की सफाई करना, कपड़े धोना भी व्यायाम का एक उपयोगी प्रकार है। हममें हाथ से काम करने का गौरव आना

चाहिए। इसीको अँग्रेजी में Dignity of manual labour कहते हैं। अपने हाथ से काम करने में हममें समता का भाव बढ़ता है और हम जनता के साथ सम्पर्क में आते हैं। कर्मण्य के लिए कोई काम नीचा नहीं है। काम मनुष्य को ऊँचा उठाता है, उसको गौरव प्रदान करता है। काम करना एक प्रकार की पूजा है 'Work is worship' जो आदमी हाथ से काम करते है उनमे आत्म-निर्भरता आती है। उनका जीवन संतुलित और सौन्दर्यमय बन जाता है। लोग उनका अनुकरण करने को तैयार रहते हैं। जो लोग काम से दूर भागते है उनके अनुयायी और नौकर-चाकर बेगार टालते है। हमको अपने नौकर से यह कहना कि जाओ अमुक काम कर लाओ यह अधिक श्रेयस्कर है कि आओ हमारे साथ यह काम करो।

मानसिक उन्नति

'मन के हारे हार है मन के जीते जीत'

मनुष्य की सारी क्रियाओं का मूल स्रोत मन में है। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है कि 'मनः पूतं समाचरेत्' मन को पवित्र बनाओ। मन को पवित्र बनाने से आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। आध्यात्मिक उन्नति से पूर्व हमारे लिए यह प्रश्न है कि मन को किस प्रकार सुसम्पन्न और सुसंस्कृत बनाया जाय, जिससे कि हम अपने जीवन यापन में सफल हो सकें? हमको संसार में व्यवहार-कुशल होने के लिए संसार के ज्ञान की आवश्यकता है। वह ज्ञान हमको निरीक्षण, गुरु की शिक्षा और अध्ययन एवं मनन से प्राप्त होता है।

ज्ञानोपार्जन तो सारी आयु भर होता है। अनुभव की पाठशाला में कभी छुट्टी नहीं होती किन्तु विद्यार्थी जीवन उसके लिए विशेष उपयुक्त है। प्राचीनकाल और आजकल के विद्यार्थी जीवन में दो बातों का विशेष अन्तर है। पहली बात तो यह कि प्राचीनकाल में विद्यार्थी शहर से अलग गुरुकुल में रहते थे और समावर्तन संस्कार होने पर ही घर पर लौटकर गार्हस्थ जीवन के चक्कर में पड़ते थे। आजकल का विद्यार्थी घर पर रहकर भी विद्योपार्जन कर सकता है और यदि वह छात्रावास में भी रहता है तो यातायात की सुविधाओं के कारण घर के सम्पर्क में अधिक रह सकता है। आजकल का विद्यार्थी गृहस्थ बनकर पिता होने का भी सौभाग्य या दुर्भाग्य प्राप्त कर लेता है। आधुनिक काल के

विद्यार्थी को वह निर्द्वन्द्वता नहीं जो पहले के विद्यार्थियो को थी। पहले ज़माने के विद्यार्थियो का शहरी वातावरण से अलग रहने के कारण प्रकृति से भी सीधा सम्पर्क अधिक रहता था।

दूसरा अन्तर इस बात का है कि प्राचीनकाल का विद्यार्थी सेवा से विद्योपार्जन करता था आजकल का विद्यार्थी धन से। प्राचीन शिक्षा की झाँकी देते हुए गुप्त जी लिखते है।

पढते सहस्रों शिष्य है, पर फीस ली जाती नहीं।
वह उच्च शिक्षा तुच्छ धन, पर बेच दी जाती नहीं॥
दे वस्त्र भोजन भी स्वय, कुल पति पढ़ाते हैं उन्हें।
बस भक्ति से संतुष्ट हो, दिन-दिन बढ़ाते हैं उन्हें॥

पहले ज़माने में गुरु और शिष्य का आध्यात्मिक और निजी सम्बन्ध होता था, तभी तो, कबीर ने गुरु को गोविन्द से भी अधिक महत्ता दी है और तुलसी ने गुरु-पद पद्म पराग को आँखों का अञ्जन बनाया है। आजकल के विद्यार्थी गुरुओ को अपना क्रीत दास समझते हैं, यहाँ तक कि कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने संस्मरणो से प्रारम्भिक शिक्षाकाल की गुलाम राज्य से तुलना की है। पहला विद्यार्थी अपने को गुरु का दास समझता था। भगवान् श्रीकृष्ण को भी सुदामा के साथ लकड़ी बीनने जाना पड़ता था। पहले गुरुकुलों मे इस सेवावृत्ति के कारण जो साम्यभाव था वह आजकल नहीं है। गुरु सेवा के कारण प्राचीनकाल मे गुरु के साथ निजी सम्पर्क का भी प्राचुर्यमय प्रसार था। विद्यार्थी गुरु के परिवार का एक व्यक्ति बन जाता था और गुरु कुलपति कहलाते थे। आजकल तो गुरु शिष्य का सम्बन्ध कुछ-कुछ यान्त्रिक-सा हो गया है, विशेष कर ऊँचे दर्जों मे जहाँ पर कि विद्यार्थी गुरु के लिखाए हुए नोटो पर निर्भर रहता है।

हम यह नहीं कहते कि प्राचीन प्रथा की ही पुनरावृत्ति हा उसमें थोड़ा दोष भी था वह यह कि विद्यार्थियों को संसार का अपेक्षाकृत ज्ञान कम होता था। लेकिन हम अपने विद्यार्थी जीवन में प्राचीनकाल की बहुत-सी बातो को अपना सकते हैं। (१) हम प्रकृति से अधिक सम्पर्क बढ़ावें। (२) गुरु शिष्य के साथ निजी सम्बन्ध स्थापित हो। (३) हमारे विद्यार्थियों में गुरु के प्रति आदर और विनय की भावना बढ़े।

ज्ञानोपार्जन की सबसे पहला सोपान निजी निरीक्षण है। संसार में हमको आँखें खोलकर चलना चाहिए और जो नई बात देखें उसकी व्याख्या के लिए अपने मस्तिष्क को कष्ट दें और यदि समझ में न आये तो गुरुजनों से पूछें। हम मे अपने में कौतूहलवृत्ति को जाग्रत करना आवश्यक है। कौतूहल ही ज्ञान का जनक है। कौतूहल द्वारा जाग्रत हुए संसार की व्याख्या के प्रयत्न में विज्ञान और दर्शन शास्त्र का उदय हुआ। न्यूटन ने सेव को जमीन पर गिरते देखकर ही गुरुत्वाकर्षण का नियम बनाया था। जेम्स वाट ने रसाई घर मे भाप शक्ति से पतीली के ढक्कन को उठते और गिरते देखकर स्टीम एञ्जिन बनाने का श्रीगणेश किया था। सर जगदीशचन्द्र बसु गाँव के मछुओ के लड़को के साथ नदी मे जल-जन्तुओ को देखा करते थे तभी वे जीव-विज्ञान के सम्बन्ध मे कुछ नवीन बातें बता सके। हमारा आरम्भिक निरीक्षण तो निरुद्देश्य ही होगा किन्तु पीछे हम किसी विशेष समस्या को लेकर अपने निरीक्षण को सोद्देश्य बना सकते हैं। उस समय हमका पक्ष और विपक्ष दोनों के ही उदाहरणों को निष्पक्षता पूर्वक संग्रह करना चाहिए। हमको अपने सिद्धान्त की पुष्टि के उत्साह मे विपक्ष की बातों की उपेक्षा करना अपनी अवैज्ञानिकता का परिचय देना होगा। पीछे वे ही विपक्ष की

बातें हमारी हार और पराजय का कारण बन जाती हैं। विपक्ष की बातों का यथावत ध्यान रखना ही तो वैज्ञानिक मनोवृत्ति है। वैज्ञानिक मनोवृत्ति केवल प्रयोगशाला मे ही अपेक्षित नहीं होती है वरन् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उसकी आवश्यकता रहती है। निष्पक्षता का ही दूसरा नाम वैज्ञानिक मनोवृत्ति है।

शिक्षा और अध्ययन मानसिक उन्नति का दूसरा सोपान है। शिक्षा का अर्थ मस्तिष्क को ज्ञान से भर लेना नहीं है वरन् गुरुओ और पुस्तको द्वारा प्राप्त ज्ञान को अपने मानसिक संस्थान का अंग बनाना और उसके सहारे अपनी ईश्वरदत्त शक्तियों का विकास करना। पुस्तको द्वारा प्राप्त ज्ञान हमारे निरीक्षण को सहारा देता है और उसके द्वारा शास्त्रीय ज्ञान परिपक्व होता है। अपने गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास रखते हुए हमको यथा-सम्भव प्रत्येक ज्ञान को अपने निजी अनुभव का विषय बनाना चाहिए।

यह बात हमको सखेद स्वीकार करनी पड़ेगी कि प्रत्येक ज्ञान हमारे निजी अनुभव का विषय नहीं बन सकता है। भूगोल का ही निजी ज्ञान प्राप्त करने के लिए पूरे जीवन का पर्यटन पर्याप्त न होगा। इतिहास के लिए भी कोई ऐसा दूरवीक्षण यन्त्र नहीं बना है जो उसे हमारे लिए हस्तामलक बना दे फिर भी हम इन विषयो का ज्ञान अन्य पुस्तको से प्राप्त कर सकते हैं। भूगोल के लिए यात्रा की पुस्तकें पढ़ना वाञ्छनीय है। इतिहास के लिए युद्धो आदि के साहित्यिक वर्णन, जीवन चरित्र आदि सम्बन्धी पुस्तको का अध्ययन हितकर होगा।

हमारे विद्यार्थी जीवन में शिक्षा के तीन साधन रहते हैं। पाठ्य-क्रम की पुस्तकें, गुरु का उपदेश और सहकारी अध्ययन।

पाठ्य पुस्तकों को भी हमे परीक्षा पास करने की दृष्टि से नहीं वरन् तत्त्वदर्शन की दृष्टि से पढ़ना चाहिए। उन पुस्तकों द्वारा विचार और भाषा पर प्रभुत्व प्राप्त करना अपना ध्येय बनाया जा सकता है। जो पाठ हम पढ़े उसमें हम यह देख लें कि हमको कौन-सा नया विचार मिला या उसके द्वारा किस पुराने विचार का संशोधन या पुष्टिकरण हुआ। उसी विचार को हमें अन्य पुस्तकों मे भी खोजने की चाह और प्रवृत्ति होना अपेक्षित है।

अध्ययन के साथ मनन भी आवश्यक है। मनन से ही ज्ञान परिपक्व होता है। मनन को ही गुनना कहते हैं। अपने अधीन ज्ञान का और ज्ञान के साथ तारतम्य स्थापित करना तथा उसको व्यवहार मे लाने के अवसर और उपाय सोचना ही मनन है। ज्ञान का लक्ष्य क्रिया है। ज्ञान को उपयोगी बनाना प्रत्येक शिक्षार्थी का पुनीत कर्तव्य है।

हमारी पुस्तकें भाषा के नये-नये प्रयोग सिखाने मे सहायक हो सकती हैं। हमको उनसे अपने विचारों की अभिव्यक्ति के साधन खोजना चाहिए। पाठ्य पुस्तकों मे विचारों की अभिव्यक्ति ही तो है। हमको जो नया शब्द या वाक्यांश मिले उसका कोष से और गुरुओं से अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। शब्दों के अर्थ के चलते ज्ञान की जरूरत नहीं वरन् निश्चित ज्ञान अपेक्षित है। विद्यार्थियों के ज्ञान में निश्चयता और यथार्थता आना अत्यन्त आवश्यक है।

शब्दों के अर्थ का ज्ञान ही नहीं वरन् उनका ठीक प्रयोग जानने मे ही भाषा सम्बन्धी ज्ञान की सार्थकता है। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है और यथार्थ अभिव्यक्ति बिना प्रयोग के नहीं आती। पढ़ना-लिखना युग्म अर्थात् जोड़े के शब्द हैं

किन्तु हमारे विद्यार्थी पढ़ते अधिक हैं लिखते कम हैं। पढ़ना-लिखना बराबर की मात्रा में होना चाहिए। लिखने से ज्ञान में निश्चयता आती है। लेकिन लिखना अनर्गल भाषण-सा न होना चाहिए। उसके नीचे अध्ययन और मनन की दृढ़ आधार शिलाएँ होना आवश्यक हैं।

अध्ययन का क्रियात्मक प्रयोग और परीक्षा भी वाञ्छनीय है। मस्तिष्क और हाथ का पारस्परिक सहयोग होना चाहिए। हमको अपने ज्ञान को मनसा, वाचा और कर्मणा चरितार्थ करना जीवन के साफल्य में सहायक होगा। जिन लोगों ने बड़े-बड़े आविष्कार किये हैं वे सब हाथ से काम करने वाले थे। राइट बन्धु जिन्होंने हवाई जहाज बनाया, साइकिल मरम्मत करनेवाले दूकानदार थे।

विद्यार्थी जीवन समाप्त होने पर भी हमको विद्यार्थियों का-सा कौतूहल और उनकी जिज्ञासा-वृत्ति की आवश्यकता रहेगी। हमको शिक्षा नीच-से-नीच और छोटे-से-छोटे से मिल सकती है। भगवान् दत्तात्रेय ने चौबीस गुरु बनाये थे। संसार के कण-कण में शिक्षा और मनन की सामग्री है। हमको आँखें और मस्तिष्क चाहिए।

चरित्र-निर्माण

Good name in man and woman dear my Lord, is the immediate jewel of their souls ;

Who steals my purse, steals trash; 'tis something nothing'

'Twas mine, 'tis his and has been slave to thousands,

But he that filches from me my good name,

Robs me of that which not enriches him, but makes me poor indeed,

—*Shakespear*

मनुष्य की विशेषता उसके चारु-चरित्र में है। मनुष्य का आदर पद, धन वा आभिजात्य के कारण भी होता है किन्तु कुछ ही समय तक और वह भयजन्य होने के कारण श्लाघनीय नहीं समझा जाता। धनी का आदर भी स्वार्थ वश ही होता है। विद्या का आदर हाँ! अपने ही कारण से होता है लेकिन वह भी विनय और चरित्र के विना चिरस्थायी नहीं होता। रावण पण्डित-पुङ्गव था। इन्द्र और कुवेर उसके द्वार पर खड़े रहते थे। उसके वल-वैभव पर आज भी लोग आश्चर्य कर उठते हैं लेकिन उसका आदर नहीं मिल सका क्योंकि उसमे चरित्र का अभाव था। इस कारण मनुष्य की महत्ता चरित्र मे है। मनुष्य की आत्मा के खरे-खोटे का निर्णय चरित्र की कसौटी के सहारे ही किया जा सकता है।

संसार में जितने प्रकार के यश हैं वे अवश्यमेव ईर्ष्याजन्य भावनाएँ पैदा करते हैं। विद्वान को सम्मानित देखकर सब किसी की इच्छा होती है कि मैं भी यह आदर प्राप्त कर संसार को विस्मय-विमुग्ध कर दूँ। लेकिन शान्ति के एकमात्र आधार चारु-चरित्र वाले में इस स्पृहा को नहीं देखा जाता। वह यह कभी नहीं चाहता है कि चरित्र के मूल्यांकन एवं चरित्र-पालन में कोई उससे आगे न निकल सके। उसकी हृदयकली तो सब में चरित्र-पालन की इच्छा देखकर खिल उठती है।

मनुष्य का मन उद्यान-भूमि की भाँति है। अगर उसकी पूरी तरह चौकसी नहीं की जावेगी तो लम्बी-लम्बी घास और कटीले पेड़ आपसे-आप उग आने की सम्भावना रहती है। इसी प्रकार अगर चरित्र-पालन का ध्यान नहीं रक्खा जावेगा तो उसके बिगड़ जाने मे कुछ भी समय नहीं लगेगा। टीले पर चढ़ने में कठिनाई मालूम होती है लेकिन उतरने में कोई कठिनाई सामने नहीं आती। चरित्र के अभाव में 'अक्षीणो: वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतोहतः' अर्थात् धन से हीन निर्धन नहीं है बल्कि सद्वृत्त के ही अभाव मे मनुष्य मरा हुआ है।

अब यह जान लेना आवश्यक है कि यह चरित्र है क्या वस्तु जो इतना महत्त्व रखती है। चरित्र उन गुणों का समूह है जो हमारे व्यवहारिक जीवन से सम्बन्ध रखते है। विनय, उदारता, धैर्य, ईमानदारी, सचाई, दृढ़ता आदि सब गुण चरित्र मे आते हैं। यद्यपि चरित्र के बनाने में और अनेक गुण स्पृहणीय है तथापि इन गुणो का विशेष महत्त्व है।

विनय विद्या का भूषण है। विनयाभाव में विद्या अपनी शोभा खो बैठती है। श्रीमद्भगवत्गीता में ब्राह्मण का 'विद्या विनय सम्पन्ने' विशेषण देकर श्रीकृष्ण भगवान् ने विद्या का विनय के

साथ आवश्यक सम्बन्ध बतलाया है। विनय से केवल विद्या की शोभा नहीं है। वह धन और बल की भी शोभा बढ़ाती है। विनय के आजाने पर अभिमान का अन्त हो जाता है। अभिमान के अभाव में व्यक्तित्व की परिमितता मिटने लगती है और मनुष्य में जाति के प्रति आदर एवं सहानुभूति के भाव उत्पन्न होने लगते हैं। सहनशीलता आदि अनेक सद्भाव भी विनय से लगे हुए हैं। इस कारण इसके अभ्यास से इसके सहचर अनेक मुख्य-मुख्य गुणों का भी अभ्यास हो जाता है।

उदारता के अन्तर्गत वे भाव आते हैं जिनमें अपने क्षुद्र आत्मभाव का परित्याग करना पड़ता है। दूसरों के प्रति समता भाव रखना, दूसरों के विचारों का आदर करना, स्वयं श्रेय न लेकर दूसरो को श्रेय देना आदि गुण उदारता की सीमा मे आते है। उदारता का अर्थ धनराशि को 'दोनों हाथ उलीचिये जो घर में बाढ़ै दाम' के आदर्श के अनुसार बिना उद्देश्य के नष्ट करना नहीं है वरन् पात्र को ही देना चाहिए है। उपकृत पुरुष तक के साथ आदर का भाव रखना चाहिए। अपने से छोटे लोगों के अपराधों को स्वयं ही व्याख्या करके क्षमा कर देने में उदारता है। जो लोग दूसरो की छोटी से छोटी बात को भी महत्त्व देने को तैयार रहते हैं वे ही उदार कहलाने के भागी हैं।

मानव जीवन कण्टकाकीर्ण है। इसमें पद-पद पर कठिनाइयों के जाल बिछे हुए हैं। कठिनाइयों के रहते हुए भी स्थिरचित्त मे चंचलता उत्पन्न न होना ही धीर का गुण है। वैभव-विलास में हँसना-खेलना कोई महत्त्व की बात नहीं है क्योंकि उस परिस्थिति में तो सभी ऐसा कर सकते हैं लेकिन आपत्तिकाल में हँसना प्रसन्न रहना सच्चा महत्त्व रखता है। कठिन से कठिन स्थिति में प्रसन्न रहना आत्मा की उच्चता का सूचक है। राजा

हरिश्चन्द्र पुत्र-शव को देखकर भी धैर्य से नहीं विचलित हुए और अपना कर्तव्य करते गये। मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी को राज्य के स्थान पर वनवास मिला लेकिन उनके मुख पर दुख की सिकुड़न नहीं पड़ी। इसी कारण ये लोग जगद्वन्दनीय हुए।

सत्य तो चरित्र की सच्ची कसौटी है। मनुष्य में अपने कुछ वास्तविक विश्वास होते हैं; उन्हे प्रकट करने में वह हिचकता है लेकिन उन विश्वासो को व्यक्त करने का साहस ही तो सत्य का निर्वाह है। लोग .खुशामद से झूठ बोला करते है। जब किसी की आत्मा को आघात पहुँचाना हिंसा है तो अपनी आत्मा का गला घोटना भी तो हिंसा ही है और लोग झूठ बोलकर ऐसा करते रहते हैं जिसके कारण अनेकानेक दुर्गुणो के लिए मन का द्वार खुल जाता है। इसीलिए कहा गया है 'साँच बरोबर तप नहीं झूँठ बरोबर पाप'। सत्य बोलने वाला ही संसार मे आदर पाता है। उपनिषदों मे सत्यकाम जाबाली की कथा आती है। वह गुरुकुल मे पढ़ने गया। वहाँ उससे उसका गोत्र और पिता का नाम पूछा गया। उसने अपनी माता से अपना गोत्र पूछा। मा ने कहा कि मैंने चाकर वृत्ति करते हुए तुझे प्राप्त किया था। इसलिए तेरे कुल-गोत्र का मुझे पता नहीं। बालक ने वैसा हो अपने गुरु से कह दिया। गुरु ने बड़े हर्ष के साथ कहा कि ऐसा सत्य ब्राह्मण ही बोल सकता है। तू अवश्य ब्राह्मण का बालक होगा। गुरु ने उसका संस्कार कर उसे गुरुकुल में पढ़ाया।

लोग लालच में पड़कर अपना सर्वस्व नष्ट कर डालते हैं। बड़े-बड़े मनीषी भी इसी लालच में पड़कर अपने त्याग-तपस्या को खो बैठे और जैसे आये थे वैसे ही चले गये। आजकल 'पण्डित सोई जो गाल बजावा' लेकिन सच्चा असर उसी की बात का होता है जो लालच में नहीं फँसता। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे'

लेकिन 'जे आचरहिं ते नर न घनेरे'। संसार में सुन्दर-सुन्दर उपदेश तो बहुत कर लेते है लेकिन कर्तव्य परायणों की संख्या अँगुली पर गिनने लायक ही है। इसी कारण संसार की सुन्दर से सुन्दर योजनाएँ निष्फल हो जाती हैं। जो लोग आपत्ति आने पर विचलित नहीं होते, प्रलोभनों के जाल मे नहीं फँसते और अपने ध्येय की पूर्ति के लिए अपने हानि-लाभ का विचार नहीं करते वे ही सच्चे कर्तव्य-परायण कहे जाते हैं, उन्हीं का समाज में आदर होता है और वे ही आत्म-सन्तोष के हक़दार हैं। 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' विकार के कारण उत्पन्न होने पर जिनके चित्त विचलित नहीं होते है वे ही धीर हैं।

आत्मनिर्भरता निम्न अवगुणों का संहार करती है। आत्म-निर्भर मनुष्य को दूसरे के पैरो के तलवे नहीं चाटने पड़ते और न चापलूसी-चाटुकारी में ही उसे समय व्यतीत करना पड़ता है। उसकी सैद्धान्तिक दृढ़ता बढ़ती जाती है। उसको गौरव और महत्त्व स्वतः ही प्राप्त होता है। 'दैव दैव आलसी पुकारा' न कि दृढ़ कर्तव्य। ईश्वर भी उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता कर लेते हैं,—'God helps those who help themselves'।

चरित्र से शील और आत्म-गौरव का भी विशेष सम्बन्ध है। चरित्रवान् शीलवान् हो सकता है लेकिन स्यात् शीलवान् चरित्रवान् नहीं हो सकता। तो भी शील की चरित्र-निर्माण में विशेष आवश्यकता है। आत्म-गौरव भी मनुष्य को निम्न कार्य करने से रोकता है।

चरित्रवान् पुरुष को छल-कपट हीन और ईमानदार होने की भी आवश्यकता है। उसमें अविकत्थना का भाव अवश्य रहना

चाहिए। अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने से भावी उन्नति का द्वार बन्द हो जाता है।

ये सब गुण अभ्यास से प्राप्त हो सकते हैं। बाल्यावस्था चरित्र-निर्माण के लिए उपयुक्त समय है। इस समय जो सद्-भ्यास बन जाते हैं वे सारी उम्र काम देते हैं। बालकपन में सीखा हुआ तैरना मनुष्य उम्र भर नहीं भूलता है। स्वनाम धन्य गोखले के सच बोलने के संस्कार बालकपन से ही बन गये थे। एक बार उन्होंने किसी लड़के की सहायता से एक सवाल निकाल लिया था उसके कारण उनको उनके मास्टर ने दर्जे मे अव्वल बैठाया। वे रो पड़े और कहने लगे कि वे अव्वल बैठने के अधिकारी नहीं। अव्वल बैठने का वही लड़का अधिकारी है। ऐसे हो संस्कार आदमी को बड़ा और चरित्रवान् बनाते हैं। यदि हमको अपना जीवन सार्थक करना है तो हमको सद्भ्यास द्वारा चरित्रवान् बनने का प्रयत्न करना चाहिए। भारत का भविष्य भारत के नवयुवक समाज के चरित्रवान् बनने पर ही निर्भर है। चरित्रवान् पुरुष ही देश को उन्नति का पथ दिखला सकते है, नव-जागरण का शंख फूँक सकते हैं और जाति के सुधारने में समर्थ होते है। चरित्रवान् पुरुष ही देश का गौरव हैं। चरित्रहीन मनुष्य देश के कलंक हैं और वे दिन-प्रति-दिन उसी प्रकार बिगड़ते जाते हैं जिस प्रकार मैले कपड़े वाला मनुष्य हर स्थान पर बैठ जाता है।

यथाहि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्रतत्रोपविश्यते
एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति।

मित्रता

जब कोई युवा पुरुष अपने घर से बाहर निकल कर बाहरी संसार में अपनी स्थिति जमाता है, तब पहली कठिनता उसे मित्र चुनने में पड़ती है। यदि उसकी स्थिति बिलकुल एकांत और निराली नहीं रहती है तो उसकी पहचान के लोग धड़ाधड़ बढ़ते जाते हैं और थोड़े ही दिनों में कुछ लोगों से उसका हेल-मेल हो जाता है। यही हेल-मेल बढ़ते-बढ़ते मित्रता के रूप में परिणत हो जाता है। मित्रों के चुनाव की उपयुक्तता पर उसके जीवन की सफलता निर्भर हो जाती है; क्योंकि संगत का गुप्त प्रभाव हमारे आचरण पर बड़ा भारी पड़ता है। हम लोग ऐसे समय में समाज में प्रवेश करके अपना कार्य आरम्भ करते हैं जब कि हमारा चित्त कोमल और हर तरह का संस्कार ग्रहण करने योग्य रहता है, हमारे भाव अपरिमार्जित और हमारी प्रवृत्ति अपरिपक्व रहती है। हम लोग कच्ची मिट्टी की मूर्त्ति के समान रहते हैं जिसे जो जिस रूप का चाहे, उस रूप का करे—चाहे राक्षस बनावे, चाहे देवता। ऐसे लोगों का साथ करना हमारे लिए बुरा है जो हमसे अधिक दृढ़संकल्प के हैं; क्योंकि हमें उनकी हर एक बात बिना विरोध के मान लेनी पड़ती है। पर ऐसे लोगों का साथ करना और भी बुरा है जो हमारी ही बात को ऊपर रखते हैं; क्योंकि ऐसी दशा में न तो हमारे ऊपर कोई दाब रहती है और न हमारे लिए कोई सहारा रहता है। दोनो अवस्थाओं में जिस बात का भय रहता है, उसका पता युवा

पुरुषों को प्रायः बहुत कम रहता है। यदि विवेक से काम लिया जाय तो यह भय नहीं रहता; पर युवा पुरुष प्रायः विवेक से काम कम लेते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि लोग एक घोड़ा लेते हैं तो उसके गुण-दोष को कितना परख कर लेते हैं, पर किसी को मित्र बनाने में उसके पूर्व आचरण और प्रकृति आदि का कुछ भी विचार और अनुसंधान नहीं करते। वे उसमें सब बातें अच्छी ही मान कर उस पर अपना पूरा विश्वास जमा देते हैं। हँसमुख चेहरा, बातचीत का ढब, थोड़ी चतुराई वा साहस—ये ही दो-चार बातें किसी में देखकर लोग चटपट उसे अपना बना लेते हैं। हम लोग यह नहीं सोचते कि मैत्री का उद्देश्य क्या है, तथा जीवन के व्यवहार में उसका कुछ मूल्य भी है। यह बातें हमें नहीं सूझतीं कि यह एक ऐसा साधन है जिससे आत्मशिक्षा का कार्य बहुत सुगम हो जाता है। एक प्राचीन विद्वान् का वचन है—"विश्वासपात्र मित्र से बड़ी भारी रक्षा रहती है। जिसे ऐसा मित्र मिल जाय उसे समझना चाहिए कि खजाना मिल गया।" विश्वासपात्र मित्र जीवन की एक औषधि है। हमें अपने मित्रों से यह आशा रखनी चाहिए कि वे उत्तम संकल्पों मे हमे दृढ़ करेंगे, दोषों और त्रुटियों से हमें बचावेंगे, हमारे सत्य, पवित्रता और मर्यादा के प्रेम को पुष्ट करेंगे, जब हम कुमार्ग पर पैर रखेंगे, तब वे हमे सचेत करेंगे, जब हम हतोत्साह होंगे, तब हमे उत्साहित करेंगे; सारांश यह है कि वे हमें उत्तमतापूर्वक जीवन-निर्वाह करने में हर तरह से सहायता देंगे। सच्ची मित्रता में उत्तम से उत्तम वैद्य की-सी निपुणता और परख होती है, अच्छी से अच्छी माता का-सा धैर्य और कोमलता होती है। ऐसी ही मित्रता करने का प्रयत्न प्रत्येक पुरुष को करना चाहिए।

छात्रावस्था मे तो मित्रता की धुन सवार रहती है। मित्रता

हृदय से उमड़ी पड़ती है। पीछे के जो स्नेह-बंधन होते हैं, उनमें न तो उतनी उमंग रहती है न उतनी खिन्नता। बाल-मैत्री में जो मग्न करनेवाला आनन्द होता है, जो हृदय को बेधने वाली ईर्ष्या और खिन्नता होती है, वह और कहाँ? कैसी मधुरता और कैसी अनुरक्ति होती है; कैसा अपार विश्वास होता है! हृदय के कैसे कैसे उद्‌गार निकलते है! वर्तमान कैसा आनंदमय दिखाई पड़ता है और भविष्य के सम्बन्ध मे कैसी लुभानेवाली कल्पनाएँ मन में रहती है। कितनी जल्दी बातें लगती है और कितनी जल्दी मानना-मनाना होता है। 'सहपाठी की मित्रता' इस उक्ति में हृदय के कितने भारी उथल-पुथल का भाव भरा हुआ है! किन्तु जिस प्रकार युवा पुरुष की मित्रता स्कूल के बालक की मित्रता से दृढ़, शांत और गंभीर होती है, उसी प्रकार हमारी युवावस्था के मित्र बाल्यावस्था के मित्रों से कई बातो मे भिन्न होते हैं। मै समझता हूँ कि मित्र चाहते हुए बहुत से लोग मित्र के आदर्श की कल्पना मन मे करते होंगे, पर इस कल्पित आदर्श से तो हमारा काम जीवन की झंझटो में चलता नहीं। सुन्दर प्रतिभा, मनभावनी चाल और स्वच्छन्द प्रकृति ये ही दो-चार बातें देखकर मित्रता की जाती है; पर जीवन-संग्राम में साथ देनेवाले मित्रो में इनसे कुछ अधिक बातें चाहिएँ। मित्र केवल उसे नहीं कहते जिसके गुणों की तो हम प्रशंसा करें, पर जिससे हम स्नेह न कर सकें, जिससे अपने छोटे-मोटे काम तो हम निकालते जायँ, पर भीतर ही भीतर घृणा करते रहे। मित्र सच्चे पथप्रदर्शक के समान होना चाहिए जिस पर हम पूरा विश्वास कर सकें, भाई के समान होना चाहिए जिसे हम अपना प्रीति-पात्र बना सकें। हमारे और हमारे मित्र के बीच सच्ची सहानुभूति होनी चाहिए—ऐसी सहानुभूति जिससे दोनों मित्र एक दूसरे की बराबर खोज-खबर लिया करें, ऐसी सहानुभूति जिससे एक के हानि-लाभ को

दूसरा अपना हानि-लाभ समझे। मित्रता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य करते हों वा एक ही रुचि के हों। इसी प्रकार प्रकृति और आचरण की समानता भी आवश्यक वा वांछनीय नहीं है। दो भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में बराबर प्रीति और मित्रता रही है। राम धीर और शांत प्रकृति के थे, लक्ष्मण उग्र और उद्धत स्वभाव के थे, पर दोनों भाइयों में अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह था। उदार तथा उच्चाशय कर्ण और लोभी दुर्योधन के स्वभावों में कुछ विशेष समानता न थी, पर उन दोनों की मित्रता ख़ूब निभी। यह कोई बात नहीं है कि एक ही स्वभाव और रुचि के लोगों ही में मित्रता हो सकती है। समाज में विभिन्नता देखकर लोग एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। जो गुण हम में नहीं हैं, हम चाहते हैं कि कोई ऐसा मित्र मिले जिसमें वह गुण हो। चिंताशील मनुष्य प्रफुल्ल-चित्त मनुष्य का साथ ढूँढ़ता है, निर्बल बली का, धीर उत्साही का। उच्च आकांक्षावाला चन्द्रगुप्त युक्ति और उपाय के लिए चाणक्य का मुँह ताकता था। नीति-विशारद अकबर मन बहलाने के लिए बीरबल की ओर देखता था।

मित्र का कर्त्तव्य इस प्रकार बताया गया है—"उच्च और महाकार्यों में इस प्रकार सहायता देना, मन बढ़ाना और साहस दिलाना कि तुम अपनी निज की सामर्थ्य से बाहर काम कर जाओ।" यह कर्तव्य उसी से पूरा होगा जो दृढ़चित्त और सत्य संकल्प का हो। इससे हमें ऐसे ही मित्रों की खोज में रहना चाहिए जिनमें हमसे अधिक आत्मबल हो। हमें उनका पल्ला उसी तरह पकड़ना चाहिए जिस तरह सुग्रीव ने राम का पल्ला पकड़ा था। मित्र हों तो प्रतिष्ठित और शुद्ध हृदय के हों, मृदुल और पुरुषार्थी हों, शिष्ट और सत्यनिष्ठ हों, जिसमें हम अपने को उनके

भरोसे पर छोड़ सकें और यह विश्वास कर सकें कि उनसे किसी प्रकार का धोखा न होगा।

जो बात ऊपर मित्रों के सम्बन्ध में कही गई है, वही जान-पहचानवालों के सम्बन्ध में भी ठीक है। जान-पहचान के लोग ऐसे हों जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते हों, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनन्दमय करने में कुछ सहायता दे सकते हों, यद्यपि उतनी नहीं जितनी गहरे मित्र दे सकते है। मनुष्य का जीवन थोड़ा है; उसमें खोने के लिए समय नहीं। यदि क, ख, और ग हमारे लिए कुछ नहीं कर सकते हैं, न कोई बुद्धिमानी वा विनोद की बात-चीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं, न अपनी सहानुभूति द्वारा हमे ढाढस बँधा सकते हैं, न हमारे आनन्द मे सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रखे। हमें अपने चारों ओर जड़-मूर्त्तियाँ सजाना नहीं है। आजकल जान-पहचान बढ़ाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थियेटर देखने जायँगे, नाच-रंग में जायँगे, सैर-सपाटे में जायँगे, भोजन का निमंत्रण स्वीकार करेंगे। यदि ऐसे जान-पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बड़ी भारी होगी। सोचो तो, तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि ये जान-पहचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकलें जिनकी संख्या दुर्भाग्यवश आजकल बहुत बढ़ रही है, यदि शोहदों में से निकलें जो अमीरों की बुराइयों और मूर्खताओं की नकल किया करते हैं, दिन-रात बनाव-सिंगार में रहा करते हैं, महफिलों में, 'ओ हो हो' 'वाह' 'वाह' किया करते हैं, गलियों में ठट्ठा मारते हैं और सिगरेट का धुआँ उड़ाते चलते

है। ऐसे नवयुवकों से बढ़कर शून्य, निःसार और शोचनीय जीवन और किसका है? वे अच्छी बातों के सच्चे आनंद से कोसों दूर हैं। उनके लिए न तो संसार में सुन्दर और मनोहर उक्तिवाले कवि हुए हैं और न सुन्दर आचरण वाले महात्मा हुए हैं। उनके लिए न तो बड़े-बड़े वीर अद्भुत कर्म कर गये हैं और न बड़े-बड़े ग्रन्थकार ऐसे विचार छोड़ गये हैं जिनसे मनुष्य जाति के हृदय में सात्विकता की उमंगें उठती हैं। उनके लिए फूल पत्तियों में कोई सौन्दर्य्य नहीं, झरनों के कलकल में मधुर संगीत नहीं, अनंत सागर-तरंगो में गम्भीर रहस्यो का आभास नहीं, उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनन्द नहीं, उनके भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शान्ति नहीं। जिनकी आत्मा अपने इन्द्रिय-विषयों मे ही लिप्त है, जिनका हृदय नीच आशयो और कुत्सित विचारो से कलुषित है, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों का दिन-दिन अंधकार मे पतित होते देख कौन ऐसा होगा जो तरस न खायगा? जिसने स्वसंस्कार का विचार अपने मन मे ठान लिया हो, उसे ऐसे प्राणियो का साथ न करना चाहिए।

मकदूनिया का बादशाह डेमेट्रियस कभी-कभी राज्य का सब काम छोड़ अपने ही मेल के दस-पॉच साथियो को लेकर विषय-वासना मे लिप्त रहा करता था। एक बार बीमारी का बहाना करके इसी प्रकार वह अपने दिन काट रहा था। इसी बीच उसका पिता उससे मिलने के लिए गया और उसने एक हँसमुख जवान को कोठरी से बाहर निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुँचा, तब डेमेट्रियस ने कहा—"ज्वर ने मुझे अभी छोड़ा है।" पिता ने कहा—"हॉ! ठीक है, वह दरवाजे पर मुझे मिला था।"

कुसंग का ज्वर सबसे भयानक होता है। यह केवल नीति और सद्वृत्ति का ही नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष की संगत यदि बुरी होगी, तो वह उसके पैरों में बँधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन-दिन अवनति के गढ़े में गिराती जायगी; और यदि अच्छी होगी तो सहारा देने वाली बाहु के समान होगी जो उसे निरन्तर उन्नति की ओर उठाती जायगी।

इंगलैंड के एक विद्वान् को युवावस्था मे राजा के दरबारियों में जगह नहीं मिली। इस पर जिन्दगी भर वह अपने भाग्य को सराहता रहा। बहुत से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते, पर वह अच्छी तरह जानता था कि वहाँ वह बुरे लोगो की संगत में पड़ता जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति मे बाधक होते। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनके घड़ी भर के साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है, क्योंकि उतने ही बीच में ऐसी-ऐसी बातें कही जाती हैं जो कानो मे न पड़नी चाहिएँ, चित्त पर ऐसे-ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे उसकी पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण करके बैठती है। बुरी बातें हमारी धारणा मे बहुत दिन तक टिकती है। इस बात को प्रायः सब लोग जानते है कि भद्दी दिल्लगी वा फूहड़ गीत जितनी जल्दी ध्यान पर चढ़ते हैं, उतनी जल्दी कोई गम्भीर वा अच्छी बात नहीं। एक बार एक मित्र ने मुझ से कहा कि उसने लड़कपन मे कहीं से एक बुरी कहावत सुन पाई थी, जिसका ध्यान वह लाख चेष्टा करता है कि न आवे, पर बार-बार आता है। जिन भावनाओ को हम दूर रखना चाहते है, जिन बातो की हम याद नहीं करना चाहते, वे बार-बार हृदय में उठती हैं और बेधती हैं अतः तुम पूरी चौकसी रखो, ऐसे लोगो को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील, अपवित्र और

फूहड़ बातों से तुम्हें हँसाना चाहें। सावधान रहो। ऐसा न हो कि पहले-पहल तुम इसे बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न होगा ; अथवा तुम्हारे चरित्र-बल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बातें बकनेवाले आगे चलकर आप सुधर जायँगे। नहीं, ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड़ में डाल देता है, तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहाँ और कैसी जगह पैर रखता है। धीरे-धीरे उन बुरी बातों से अभ्यस्त होते-होते तुम्हारी घृणा कम हो जायगी। पीछे तुम्हें उनसे चिढ़ न मालूम होगी, क्योंकि तुम यह सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात ही क्या है। तुम्हारा विवेक कुंठित हो जायगा और तुम्हें भले-बुरे की पहचान न रह जायगी। अन्त में होते-होते तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे। अतः हृदय को उज्ज्वल और निष्कलंक रखने का सब से अच्छा उपाय यही है कि बुरी संगत की छूत से बचो। यह पुरानी कहावत है कि—

> "काजल की कोठरी में कैसोहू सयानो जाय
> एक लीक काजर की लागि है पै लागि है।"

समाज के प्रति हमारा कर्तव्य

थी दूसरों की आपदा हरणार्थ अपनी सम्पदा,
कहते नहीं थे किन्तु हम करके दिखाते थे सदा
नीचे गिरे को प्रेम से ऊँचा चढ़ाते थे हमीं,
पीछे रहे को घूमकर आगे बढाते थे हमीं –

—मैथिलीशरण गुप्त

यद्यपि आत्मा मन और बुद्धि से परे है तथापि आध्यात्मिक उन्नति मन और बुद्धि द्वारा ही होती है। मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के बीच की श्रेणी सामाजिक या कर्तव्य सम्बन्धी उन्नति है। मनुष्य इस संसार में अकेला नहीं है, वह समाज का अङ्ग है। वैयक्तिक उन्नति सामाजिक उन्नति की अपेक्षा रखती है। जिस प्रकार व्यक्ति को अपने को उन्नत बनाना आवश्यक है उसी प्रकार समाज को भी उन्नत बनाना उसका कर्तव्य हो जाता है।

मनुष्य का दूसरों के साथ जो सम्बन्ध है उसमें न्याय, सहृदयता और उदारता की आवश्यकता है। जो मनुष्य दूसरों के साथ न्याय नहीं कर सकता है वह दूसरों से भी न्याय की आशा नहीं रख सकता है। न्याय तो सामाजिक जीवन की न्यूनतम आवश्यकता है। दूसरों को अपने अधिकार सुरक्षित रखने में सहायक होना ही न्याय है। जो जिसका प्राप्य है वह उसको बिना कष्ट और आपत्ति के मिलना चाहिए, यही न्याय का मूल मंत्र है।

न्याय की दूसरी माँग यह है कि हम अपने उचित कार्यों के करने में स्वतन्त्र रहें और दूसरों की उचित स्वतन्त्रता में बाधक न हों। स्वतन्त्रता अच्छी चीज़ है किन्तु उसकी सीमाएँ हैं, उसको स्वेच्छाचार में न परिणत होना चाहिए। हमको अपनी स्वतन्त्रता के साथ दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक न होने के लिए आत्मसंयम और नियंत्रण की आवश्यकता है। स्वतन्त्रता और संयम का चोली-दामन का साथ है। वे एक दूसरे के पूरक हैं।

दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधक न होने के लिए हमको सहृदयता की भी आवश्यकता है। विना सहृदयता के हम दूसरे का दृष्टिकोण नहीं समझ सकते हैं और विना दूसरे के दृष्टिकोण के समझे उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकती है।

सुख और दुख के सम्बन्ध में हमको दूसरों को आत्मौपम्य दृष्टि से देखना चाहिए—जो वस्तु हमको दुख देती है वह दूसरों को भी दुख देगी और जो हमको सुख देती है वह दूसरो को भी सुख देगी। दूसरों के सम्बन्ध में हमको अपने प्रतिकूल न आचरण करना चाहिए:—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चोप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अपनी उन्नति के साथ दूसरों की भी उन्नति हो, इसके लिए सबको समान अवसर देने और उनकी रक्षा भरण-पोषण आमोद-प्रमोद और आत्मोन्नति के समान अधिकार होना आवश्यक है। संसार में पूर्ण साम्यवाद तो एक स्वप्न की वस्तु है किन्तु किसीको अपनी जीविका उपार्जन शिक्षा और अन्य आत्मोन्नति के साधनों में रुकावट न होना चाहिए। हमारे जो अधिकार हैं उनका हम उन लोगों के पक्ष मे जिनके पास कम

अधिकार हैं बलिदान करना सीखें। यदि हमारे पास कुलीनता का अधिकार है कि दूसरे हमारा आदर करें तो हमको चाहिए कि हम उस अधिकार को छोड़ कर स्वयं उनका आदर करें; कम से कम अबे-तबे तो न बोलें। रवि बाबू ने कहा है कि शूद्रों का जन्म भगवान् के चरणों से हुआ है 'शूद्रो पद्भ्यामजायत' भगवान् के चरणों के समान वे भी पूज्य हैं। इसी भाव को मैथिलीशरणजी ने कुछ और बलवान बनाकर लिखा है:—

> रक्खो न व्यर्थ घृणा कभी न निज वर्ण से या नाम से,
> मत नीच समझो आपको, ऊँचे बनो कुछ काम से।
> उत्पन्न हो प्रभु पदों से जो सभी को ध्येय हैं,
> तुम हो सहोदर सुरसरी के चरित जिसके गेय हैं॥

यदि हम धनवान हैं तो निर्धनों की आवश्यकताओं के लिए अपने धन का उत्सर्ग करें ताकि उनकी उन्नति में जो बाधाएँ हैं वे दूर हो जायँ। हम यदि स्वामी हैं और सेवक पर उसकी सेवा का अधिकार रखते हैं तो अपने अधिकार का थोड़ा परित्याग कर उसके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार द्वारा उसके बोझ को हलका करें।

सहृदयता और उदारता दैवी गुण हैं। उदारता किसी का बिना माँगे उपकार करने को कहते हैं। यदि माँगने वाले को हाथ पसारना पड़ा तो उसका स्वाभिमान नष्ट हो जाता है। हाथ पसारने के बाद जो होते हुए नाहीं कर देते हैं वे मनुष्यता से गिरे हुए कहे जायँगे। रहीम ने कहा है:—

> रहिमन वे नर मर चुके, जे कछु माँगन जाहिं।
> उनसे पहिले वे मरे, जिन मुख निकसत नाहिं॥

उदारता में देश, काल और पात्र का हमेशा ध्यान रक्खा जाना चाहिए किन्तु जिसके प्रति उदारता की जाय उसके स्वाभिमान

को नष्ट न होने देना चाहिए। रामचन्द्रजी ने याचकों का दान और मान दोनों से सन्तोष किया था।

सेवा उदारता का ही अंग है। मनुष्य की सेवा भगवान् की सेवा का अङ्ग है। भगवान् के विराट रूप में सारी चराचर सृष्टि आ जाती है। अबू बिन आदम को मानव सेवा के कारण ही स्वर्ग के फरिश्ते ने भगवान् के भक्तों में सब से पहला स्थान दिया था। दरिद्र नारायण का सेवक स्वयं ही नारायण बन जाता है क्योंकि भगवान् भी तो दीनबन्धु ही हैं। अपने हित-चिन्तन के साथ दूसरे का हितचिन्तन मनुष्य को देवत्व के पद पर प्रतिष्ठित कर देता है।

> बास उसी में है त्रिभुवर का, है बस सच्चा साधु वही,
> जिसने दुखियों को अपनाया, बढ़कर उनकी बाँह गही।
> आत्म स्थिति जानी उसने ही, परहित जिसने व्यथा सही,
> परहितार्थ जिनका वैभव है, है उनसे यह धन्य मही॥

सेवा का सेव्य पर भारी असर पड़ता है। सेवा की भाषा सार्वजनिक है। हृदय हृदय की भाषा जानता है। सेवा की आग में पत्थर भी मोम हो जाता है। महात्मा गाँधी नोआखाली में सेवा के ही द्वारा मुसलमानों में सद्भावना उत्पन्न कर रहे हैं। महात्मा गाँधी नागपुर विश्वविद्यालय के डाक्टर तो हैं ही वे चिकित्सा के भी विशेषज्ञ डाक्टर हैं। रोगी चिकित्सा उनके सेवा-मार्ग का अंग है। उनकी रोगी सेवा के सम्बन्ध में श्रीमन्नारायण अग्रवाल अपने जुगनू नामक निबन्ध संग्रह में लिखते हैं:—

"गाँधीजी दुनिया के सामने महात्मा के रूप में ही पूजे जाते हैं। किन्तु 'महात्मा गाँधी' के बजाय उन्हें 'मानव गाँधी' कहना ज्यादा ठीक होगा। बापूजी 'महात्मा' शब्द की बातचीत

में प्रायः हँसी उड़ाया करते हैं । गांधीजी की मानवता रोगियों की सेवा के रूप में विशेषकर प्रकट होती है। रोगियों की देख-भाल में उनका कितना समय जाता है, इसकी कल्पना बहुत कम लोगों को होगी। सुबह-शाम टहलने के समय तो वे बीमारों की ओर चक्कर लगाते ही हैं; किन्तु कभी-कभी तो वे दिन में भी सेवा-सुश्रूषा में कई घंटे बिता देते हैं। सारे हिन्दुस्तान की बाग-डोर उनके हाथ में होने पर भी वे अपना डाक्टरी विभाग में इतना समय दे सकते है, यह आश्चर्य की बात अवश्य है। किन्तु जो लोग गॉधीजी के निकट रहते हैं, उन्हे इसका रहस्य मालूम हो जाता है।

बापूजी ने तो सेवा को ही अपना धर्म बनाया है। गरीबों तथा दुखियों की भूख तथा दर्द में ही उन्हें परमेश्वर के दर्शन की झलक मिलती है, इसीलिये उनके इष्टदेव 'दरिद्रनारायण' व 'रोगी नारायण' हैं। इनकी सेवा करने में गॉधीजी को सच्चा संतोष और आनन्द मिलता है, उनके दैनिक कार्य में कोई बाधा नहीं आती। राजनीतिक कार्यों की झंझटों के बाद जब बापूजी रोगियों की ओर जाते हैं तो उनका दिमाग़ फिर ताजा और प्रफुल्लित हो जाता है, उन्हे आन्तरिक शान्ति मिल जाती है, क्योंकि उन्हे प्रत्यक्ष सेवा का मौक़ा मिलता है।

जब आश्रम का कोई कार्यकर्ता मामूली से मामूली व्यक्ति-अधिक बीमार हो जाता है, तो बापूजी ही डाक्टर, नर्स, नौकर और मालिश करने वाले बन जाते हैं। वे ही रोगी के भोजन सम्बन्धी विस्तृत हिदायतें देते हैं। यदि उनसे कोई कहे— 'बापूजी, आपके पास बहुत काम है, रहने दीजिये, तो तुरन्त उत्तर मिल जाता है—"क्या मैं आदमी नहीं हूँ? जब मेरा पड़ोसी और मित्र पीड़ित है, तो मैं उसकी परवाह न करके क्या

सेवा करूँ ? सचमुच पड़ोसी धर्म ही सच्चा धर्म है। अपने नजदीक रहने वाले लोगों की सेवा न करके देश और संसार की सेवा करने की योजनायें बनाना निरर्थक है।"

यह भावना मनुष्य को मनुष्य बनाती है। ऐसे समाज सेवा के अवसर केवल रोगियों की सहायता में सीमित नहीं हैं। दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प और साम्प्रदायिक झगड़े सब कर्मण्य के लिए कर्तव्य की पुकार करते हैं। समाज में साम्प्रदायिकता के विष को फैलने से रोकना प्रत्येक देशहितैषी का कर्तव्य है। साम्प्रदायिक झगड़े देश के लिए कलङ्क हैं। समाज सेवक जहाँ किसी को पीड़ित देखता है वहाँ पर वह यह नहीं सोचता कि पीड़ित हिन्दू है या मुसलमान अथवा हरिजन है वा सवर्ण हिन्दू। मानवता इन संकुचित भेदों को नहीं स्वीकार करती। यह हमारी कमजोरी है कि हम अपने से भिन्न साम्प्रदाय के लोगों के मरने या मिटने पर प्रसन्न होते हैं। हमको उनके भी बाल-बच्चों का ख्याल करना चाहिए और अपनी सेवा और संरक्षणता से किसी सम्प्रदाय के लोगों को वञ्चित न करना चाहिए।

महात्मा तुलसीदासजी ने सन्त उसी को कहा है जो स्वयं कष्ट उठाकर दूसरे के कष्ट का निवारण करता है दूसरों के लिए जो कष्ट उठाया जाता है वह कर्तव्य की प्रसन्नता में परिणत हो जाता है!

साधु चरित शुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुणमय फल जासू।
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। वन्दनीय जेहि जग यश पावा॥

स्वावलम्बन

'स्वयंदासाः तपस्विनः'

'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'

दूसरों के आश्रित न रहकर अपने भरोसे और सहारे काम करने को स्वावलंबन कहते हैं। इस संकुलतामय संसार में मनुष्य को दूसरों के संपर्क में आना पड़ता है और ये दूसरे कभी अपने अनुकूल होते हैं और कभी प्रतिकूल। अनुकूल मनुष्यों से सहायता मिलने की आशा रहती है, प्रतिकूल से नहीं। अनुकूल भी प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक समय सहायता नहीं दे सकते। इसीलिए संसार में स्वावलम्बन की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य को केवल एक ही बार एक काम नहीं करना पड़ता, वरन् बहुत से काम ऐसे हैं जो नित्य-प्रति करने पड़ते हैं। जब तक हम इन कामों को करने का स्वयं अभ्यास नहीं डालते तब तक हम उन्हें नहीं कर सकते।

प्रायः ऐसे अवसर भी आजाते है जब सहायक के उपस्थित न होने के कारण बड़ो आपत्ति का सामना करना पड़ता हैं। लखनऊ के किसी नवाब के सम्बन्ध में कहा जाता हैं कि जब तक कोई दूसरा आदमी उनके जूतों को दरवाजे की ओर न कर देता, तब तक वे बाहर न जाते थे। एक बार उनको अपनी जान बचा कर भागने का अवसर आया। किन्तु उनके जूते दरवाजे की ओर न थे और उस समय कोई नौकर भी न था, इसलिए वे घर से बाहर जाने में असमर्थ रहे और कैद कर लिये गये। ऐसे कोमल, कायर पुरुष तो कदाचित् भागकर भी अपने को नहीं बचा सकते।

उपर्युक्त घटना चाहे कल्पित हो; किन्तु बहुत से लोग ऐसे होते अवश्य हैं, जिनका विना नौकरों के काम ही नहीं चल सकता; ऐसे लोगों का जीवन दुखमय हो जाता है। यदि मनुष्य अपने जीवन में उन्नति करना चाहता है, तो उसको परावलम्बन छोड़कर—परमुखापेक्षी न होकर—स्वावलम्बन सीखना चाहिए।

सब मनुष्यों की परिस्थितियाँ एक-सी नहीं होती हैं। कोई तो लाड़-प्यार में पलते है और कनक कटोरा में दूध पीते हैं। उनको सभी सहायता देने के लिए लालायित-से रहते हैं। किन्तु बहुत-से लोग गरीब घरों मे उत्पन्न होकर गोस्वामी तुलसीदासजी की भाँति जननी-जनक के परिताप स्वरूप बन जाते हैं और उनके लिए भी नीचे के वाक्य सार्थक होते हैं।

> बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
> जानत हो चारिफल चारि ही चनक को।

ऐसे गरीब लोगों को तो अपना ही सहारा लेना पड़ता है। वे अपने भरोसे दुनिया की विषम परिस्थितियों से लड़ते हैं। महाभारत में एकलव्य की कथा आती है। निषाध का बालक होने के कारण वह कौरवकुल के राजकुमारों के गुरुदेव से शिक्षा नहीं ग्रहण कर सका था। उसने गुरु द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसकी उपस्थिति में बाण चलाने का अभ्यास किया और राजकुमारो-सा ही धनुर्विद्या-विशारद बन गया।

अमरीका में ऐसे उदाहरण हैं कि अख़बार बेचने वाले लड़के अपने अध्यवसाय से राष्ट्रपति बन गये हैं। बहुत-से आदमी सड़क की लालटेनों के आलोक में पढ़कर बड़े बने हैं। महामना मालवीय, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद प्रभृति देश के नेता अपने ही परिश्रम और अध्यवसाय से इतने ऊँचे उठे हैं।

यदि हृदय में लगन और उत्साह हो तो गरीबी किसी की उन्नति में बाधक नहीं हो सकती है। स्वामी सत्यदेवजी ने अमरीका के होटलों में बर्तन माँजकर विद्याभ्यास किया था। एडीसन जिसने तार, टेलीफोन, ग्रामोफोन आदि का आविष्कार किया था मामूली ही आदमी का लड़का था। नेपोलियन, हिटलर आदि भी मामूली स्थिति से ही ऊँचे उठे थे।

यद्यपि संसार के बहुत से कार्य दूसरों के हाथ में होते हैं तथापि स्वावलम्बी के लिए सब सहज हो जाते हैं। अन्य लोग स्वावलम्बी का आदर करने लगते हैं और उन्हें उसका थोड़ा-बहुत भय भी होता है। वे जानते हैं कि स्वावलम्बी मनुष्य अपने सहारे स्वयं खड़ा हो सकता है और उसे उनकी इतनी आवश्यकता नहीं कि वह उनके बिना कोई कार्य कर ही न सके; उनसे जो कुछ सहायता ली जाती है, वह सद्भावना के कारण ही ली जाती है, आवश्यकतावश नहीं। इसलिए उनकी सद्भावना बनाये रखना आवश्यक है।

स्वावलम्बी मनुष्य अपना बहुत-सा धन अपव्यय से बचाकर अन्य उपयोगी कार्यों में उसका सदुपयोग कर सकता है। उसे अपने समय का अपव्यय नहीं करना पड़ता। वह समय पर अपना काम करने में समर्थ होता है। उसे काम के अधूरा पड़ा रहने से झुँझलाना नहीं पड़ता और वह कर्त्तव्य-पालन के प्रयत्न में प्रसन्न रहता है।

स्वावलम्बी मनुष्य सदा हृष्ट-पुष्ट रहता है, क्योंकि उसके अवयव आलस्य-जन्य निष्क्रियता-वश शिथिल नहीं हो जाते। अतएव कहा है—"स्वावलम्बी सदा सुखी।" उसके हृदय में उत्साह और शरीर में स्फूर्ति की मात्रा अधिकता से विद्यमान

रहती है। उसके आगे आपत्तियाँ और कठिनाइयाँ सिर झुका लेती हैं और सफलता उसकी दासी होती है।

जो दशा व्यक्ति की है वही देश और जाति की भी है। जिस प्रकार व्यक्ति के लिए स्वावलम्बन आवश्यक है, उसी प्रकार देश और जाति के लिए भी वह जरूरी हैं। कोई जाति उन्नत तभी हो सकती है, जब वह अपनी आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर निर्भर न हो।

व्यक्ति और जाति अपने भाग्य के आप ही विधायक होते हैं। हम दूसरों की सहायता की जितनी ही अपेक्षा करते हैं, उतना ही हम अपने को अयोग्य बनाते हैं, उतना ही हम पराधीनता की बेड़ियों मे जकड़े जाते हैं। ईश्वर भी उसी समय हमारी मदद करता है जब हम स्वयं अपनी सहायता करने को तैयार होते हैं। इसलिए मनुष्य को सदा स्वावलम्वी बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

पुरुषार्थ और संलग्नता

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः
दैवेन देयमिति कापुरुषाः वदन्ति।
दैवं निहित्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः।*

कादर मन कहँ एक अधारा। दैव-दैव आलसी पुकारा॥

हमारे भारतवर्ष में भाग्यवाद और कर्मवाद की प्रधानता होने के कारण पुरुषार्थ का कुछ ह्रास-सा दिखाई देता है।

खानखाना रहीम का नीचे का दोहा इसी विचार धारा का फल है :—

जो पुरुषारथ ते कहूँ, सम्पति मिलत रहीम।
पेट लागि वैराट घर, तपत रसोई भीम॥

भीम ने विराट राजा के यहाँ नौकरी अवश्य की थी किन्तु अन्त में उन लोगों के पुरुषार्थ ने ही उनको विजयी बनाया था। हमारा भाग्य भी तो पिछले जन्म के पुरुषार्थ से ही बन जाता है। जिस प्रकार कल का कुपच आज के उपवास से ठीक हो जाता है उसी प्रकार आज का पुरुषार्थ पिछले जन्म के भाग्य

---

* उद्योगी पुरुष-सिंह को ही लक्ष्मी मिलती है। लक्ष्मी भाग्य से मिलती है— ऐसा कायर लोग कहते हैं। दैव का सहारा छोड़कर अपनी शक्ति से पौरुष करो फिर यदि यत्न करने पर सिद्धि न प्राप्त हो तो किसका दोष है? अर्थात् तुम दोषी नहीं कहे जाओगे।

पर विजय पा लेता है। यदि पुरुषार्थ की महत्ता न होती तो शास्त्रों का उपदेश ही वृथा होता। योगवशिष्ट में लिखा है कि जिस प्रकार एक बलवान् मेढ़ा कमजोर मेढ़े पर विजय पा लेता है उसी प्रकार आज का प्रबल पुरुषार्थ कल के संस्कारों को दबाकर मनुष्य को विजयी बनाता है।

पुरुषार्थ का अर्थ है संकल्प को दृढ़ बनाकर कार्य में संलग्न हो जाना और आपत्तियों से विचलित न होना। विघ्नों के भय से नीच आदमी ही पुरुषार्थ हीन बैठे रहते हैं। मध्यम लोग काम को आरम्भ तो कर देते हैं किन्तु विघ्न आने पर उसे बीच में छोड़ देते हैं। श्रेष्ठ लोग विघ्नों के बार-बार आने पर भी जो काम शुरू किया है उसको जब तक वह अन्त तक न पहुँच जावे छोड़ते नहीं हैं।

प्रारम्भ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः।
प्रारम्भ विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः॥
विघ्नै पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति॥

पुरुषार्थी मनुष्य दुख और सुख को नहीं गिनता। गर्मी जाड़े और बरसात उसकी गति में बाधक नहीं हो सकते हैं। उसके संकल्प में एक निष्ठता और ध्रुव की-सी अचलता रहती है। उसकी दृढ़ प्रतिज्ञा पार्वती की-सी होती है 'कोटि जनम लगि रगरि हमारी बरौं संभु न तो रहौं कुँआरी' 'त्रिया तेल हम्मीर हठ चढ़े न दूजी बार' का उसका संकल्प अटल रहता है।

पुरुषार्थी मनुष्य के लिए लक्ष्य की निश्चयता के साथ आत्म विश्वास और उत्साह चाहिए। लक्ष्यहीन मनुष्य कभी सफल नहीं हो सकता है। उसकी शक्तियाँ केन्द्रस्थ नहीं रहती हैं। वह

चाहे जितने हाथ-पैर पीटे किन्तु उसको सफलता के दर्शन नहीं होते हैं। इसीलिए मनुष्य को बहुधन्धी होना ठीक नहीं। मनुष्य को उतना ही काम हाथ में लेना चाहिए जितना कि वह सफलता पूर्वक कर सके और फिर अपने ध्यान को उसी लक्ष्य पर जमा दे। सच्चा पुरुषार्थी वीरवर अर्जुन की भाँति चिड़िया की आँख के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता। एकबार गुरु द्रोणाचार्य से अन्य राजकुमारों ने शिकायत की कि वे अर्जुन के ऊपर अधिक कृपा करते है। उन्होंने एक दिन शिक्षा के समय राजकुमारों से चिड़िया की आँख पर निशाना लगाने को कहा। एक-एक शिष्य से पूछा कि वह क्या देखता है? किसी ने कहा कि व्यायामशाला में खड़ा हुआ पेड़ और उस पर बैठी हुई चिड़िया। किसी ने कहा मैं पेड़ पर बंठी चिड़िया देखता हूँ तो एक तीसरे ने कहा कि मैं चिड़िया देखता हूँ; किन्तु अर्जुन ने कहा कि मै केवल चिड़िया की आँख को देखता हूँ। लक्ष्यमात्र पर एकाग्रता के साथ दृष्टि रखने के लिए ही उनके गुरु-देव उन पर प्रसन्न थे।

आत्म-विश्वास के विना उत्साह नहीं आता! जो मनुष्य रोता हुआ जाता है मरे की खबर लाता है। विजेता सीजर के मन का आत्म-विश्वास ही उसे रुपीकन नदी के पार ले गया। 'जाके मन में अटक है सोई अटक रहा'। मन की अटक को दूर करके ही अटक नदी को पार किया गया था। आलसी लोग ही आत्म-विश्वास को खो बैठते हैं। उत्साह ही मनुष्य को वीर बना देता है। वही वीर-रस का स्थायी-भाव है।

पुरुषार्थी मनुष्य धीर और वीर होता है। उसमें वह धैर्य होता है जोकि कठिनाइयों, आपत्तियों और विफलताओं से विचलित नहीं हाने देता है। उसके मुख पर सदा मुस्कराहट रहती है कर्तव्य की प्रसन्नता में वह मग्न रहता है। हानि-लाभ, यश-

अपयश को विधि के हाथ की बात समझ कर वह 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' अर्थात् कर्म करने का ही तेरा अधिकार है फल का नहीं, श्रीमद्भगवद्गीता के इन अमर वचनों को अपना आदर्श वाक्य बनाये रखता है। उसको न किसी पर खीझ होती है और न किसी पर झुँझलाहट आती है। विफलता से वह हार नहीं मानता। प्रत्येक विफलता उसमें नया उत्साह और नई स्फूर्ति को उत्पन्न करती है। रावर्ट ब्रूनो के लिए कहा गया है कि उसने देखा कि एक मकड़ी को एक तार को इस पार से उस पार ले जाने में असफलताओं का सामना करते-करते बत्तीसवीं बार सफलता मिली। वह भी शायद उतनी ही बार हार गया था। फिर उसने युद्ध किया और उसे सफलता मिली।

नुक़सान से पुरुषार्थी मनुष्य विचलित होकर अपने मन की शान्ति को भङ्ग नहीं कर देता है। न्यूटन के लिए कहा जाता है कि वह एक यन्त्र द्वारा कुछ निरीक्षण किया करता था और उस यन्त्र के पास एक बड़ा चार्ट रक्खा रहता था, जिस पर दिन-प्रति-दिन वह अपने निरीक्षणों का फल लिखता जाता था। उस कागज पर बरसों के परिश्रम पूर्ण निरीक्षण का फ़ल अंकित था किन्तु वह काग़ज़ जीर्ण-शीर्ण हो गया था और उस पर कहीं-कहीं धब्बे भी पड़ गये थे। उसका एक नया नौकर आया। उसको यह वृत्तान्त मालूम न था। वह समझता था कि ऐसे जीर्ण-शीर्ण काग़ज से कमरे की सफाई और शोभा में कमी आती है। उसने मालिक की अनुपस्थिति में काग़ज़ को फाड़ कर रद्दी की टोकरी में डाल दिया और एक नया काग़ज़ यन्त्र के पास लगा दिया।

न्यूटन जब शाम को लौटा उसने पुराने काग़ज के स्थान में नया काग़ज पाया। उसने नौकर से पूछा। बेचारे ने साफ़-साफ़ कह दिया कि उसने समझा था कि काग़ज़ पुराना हो गया और

मालिक को नये काग़ज़ की ज़रूरत है; इसीलिए उसने उसको फाड़कर फेंक दिया। न्यूटन जानता था कि नौकर ने जो कुछ किया नेकनियती से किया किन्तु बेचारे में इतनी अक़्ल न थी कि वह उस काग़ज़ का महत्व समझ सके। न्यूटन सावधानी के साथ फिर उस यन्त्र पर परिश्रम करके अपने निरीक्षण और प्रयोगों को अंकित करने लग गया।

न्यूटन के सम्बन्ध में एक और किम्बदन्ती है कि एक बार उसके कुत्ते ने उसकी एक पुस्तक की पाण्डुलिपि पर लेम्प गिरा दिया और वह जल गई। न्यूटन ने केवल इतना ही कहा कि तू नहीं जानता तैंने कितना नुक़सान किया और फिर वह उस कार्य में संलग्न हो गया।

कार्लायल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक जो उसने फ्रांस की राज-क्रान्ति पर लिखी थी मिल साहब को पढ़ने को दी थी। मिल साहब के यहाँ बहुत दिनों लापरवाही के साथ मेज़ पर रक्खी रही। एक बार वह मेज़ से गिर पड़ी और उनकी नौकरानी या नौकर ने उसको रद्दी समझ कर उससे अँगीठी जलाने का काम लिया। कार्लायल को यह बात मालूम हुई तो तनिक भी विचलित न हुए और फिर लिखना शुरू कर दिया। दूसरी पुस्तक जो लिखी पहले से अच्छी बनी।

पुरुषार्थी मनुष्य न दैव को दोष देता है, न समय को और परिस्थितियों को वह स्वयं अपने अनुकूल बना लेता है। जो लोग केवल मनसूबे बनाना जानते हैं या प्रारम्भशूर होते हैं वे ही अपना दोष दूसरे के सिर मढ़ते हैं और नाच न जाने आँगन टेढ़े की बात को चरितार्थ किया करते हैं।

पुरुषार्थी मनुष्य अपने में आत्म-विश्वास रखता हुआ भी

अपनी कठिनाइयों की उपेक्षा नहीं करता। वह अपने काम को पूरी तैयारी के साथ करता है। चूहे की शिकार के लिए शेर की शिकार का सामान जुटाता है किन्तु उपयुक्त साधनों से ही काम लेता है। जहाँ छुरी से काम चलता है वहाँ तलवार का प्रयोग नहीं करेगा।

पुरुषार्थी मनुष्य दूसरे के साथ सहयोग करेगा किन्तु भरोसा अपने ही ऊपर रक्खेगा। दुनिया में जिन लोगों ने कुछ किया है वह पुरुषार्थ और संलग्नता के ही बल पर किया है। बहुत से लोगों का तो कहना है कि प्रतिभा भी संलग्नता का ही रूपान्तर है। दुनिया में जितने आविष्कार हुए हैं देखने में चाहे वे आकस्मिक मालूम हों किन्तु वे संलग्नता के ही फल स्वरूप संसार को मिले है। जिस आदमी ने इनेमिल (लोहे, ताम्बे वग़ैरह पर चीनी करने) का आविष्कार किया था उसने घर का फर्नीचर और किवाड़ तक जला दिये। पुरुषार्थी के लिए विराम को स्थान नहीं। न्यूटन को खाना खाने की भी याद नहीं रहती थी। सर जगदीशचन्द्र वसु और प्रफुल्लराय संलग्नता के कारण ही इतने ऊँचे उठ सके। सर जगदीशचन्द्र वसु के पिता उनको वलायत आई० सी० एस० के लिए भेजना चाहते थे किन्तु उनका ध्येय था विज्ञान। वे अपने पिता के कोपभाजन बने और जब विदेश गये तो विज्ञान के लिए ही गये।

पुरुषार्थी अपनी संलग्नता में दूसरों के उपहास की भी परवाह नहीं करता है। चेचक के टीके के आविष्कार कर्त्ता का काफी मजाक उड़ाया गया। उससे कहा गया कि तुम गाय के थनों का वेक्सीन मनुष्य के शरीर में प्रवेश कराकर क्या मनुष्य से बैल बनाना चाहते हो? हवाई जहाज के आविष्कारक राइट ब्रादर्स का मजाक स्वयं उनके पिता ने उड़ाया था। उन्होंने कहा

था कि मनुष्य के लिए हवा में उड़ना असम्भव है और सम्भव भी हो तो ओहिओ का (अमरीका का वह नगर जहाँ वे रहते थे) कोई आदमी नहीं बना सकता। फिर ओहिओ के ही उन्हीं लड़कों ने पहला हवाई जहाज बनाकर हवा की विजय का श्रेय लिया।

पुरुषार्थी की जितनी महिमा गाई जाय उतनी थोड़ी है। पुरुषार्थ के बल पर ही शिवाजी और छत्रसाल इतने बड़े बने पुरुषार्थ के ही कारण महात्मा गांधी जगद्विख्यात बने।

वीरता

वीरत्व संसार में एक अमूल्य रत्न है। इसका आविर्भाव उत्साह से होता है। साहित्य-शास्त्र में उत्साह ही इसका स्थायी भाव माना गया है, अर्थात् बिना उत्साह के यह कभी स्थिर नहीं हो सकता। जिस पुरुष में किसी प्रकार का उत्साह नहीं है, वह किसी भी बात में कभी वीरता नहीं दिखला सकता। यह एक ऐसा गुण है कि जिसे न केवल वीर, वरन् कादर भी सम्मान की दृष्टि से देखता है। वीर से बढ़कर सर्वप्रिय कोई भी नहीं होता और संसार पर वीरता का जितना प्रभाव पड़ता है उतना प्रायः और किसी गुण का नहीं पड़ता। सत्य आदि भी बड़े अनमोल गुण हैं किन्तु जितना आकस्मिक और रोमांचकारी प्रभाव वीरत्व का पड़ेगा उतना सत्य आदि का कभी नहीं पड़ेगा। इसीलिये वीरत्व में जगन्मोहिनी शक्ति सभी अन्य गुणों से श्रेष्ठतर है और यह कीर्त्ति का सबसे बड़ा वर्धक है। कादरता और भय से इसका सहज विरोध है। कादरता में तिलमात्र आकर्षण शक्ति तथा भय में कुछ भी प्रीति-योग्य नहीं है। कादरता का कोई भी अंश किसी का चित्त अपनी ओर आकृष्ट नहीं करेगा और भय मे कोई भी ऐसा अंश नहीं है जो किसी का प्रीतिभाजन हो सके।

वीरत्व को बहुत लोगो ने सामर्थ्य में मिला रक्खा है, किन्तु इन दोनों मे कोई मुख्य सम्बन्ध नहीं है। सामर्थ्य केवल इतना करता है कि वीरत्व की महिमा बढ़ा देता है। यदि वीर पुरुष

बलहीन हुआ तो उसकी वीरता वैसी नहीं जगमगाती जैसी कि बलवान वीर की। यदि हनुमान जी समुद्र न फलाँग गए होते तो भी उतने ही बड़े वीर होते जैसे कि अब माने जाते हैं, किन्तु उनके महावीरत्व को चमकानेवाले उदधि-उल्लङ्घन और द्रोणाचल-आनयन के ही कार्य्य हुए। वीरत्व और पराक्रम में इतना ही भेद है। वास्तविक वीरत्व का मुख्य आधार शारीरिक बल न होकर मानसिक बल है, जिसे इच्छा-शक्ति (Will-power) कहते हैं। इस शक्ति का वेग कोई भी नहीं रोक सकता। एक पुरुष की उद्दाम इच्छाशक्ति से पूरी सेना में पुरुषत्व आ सकता है और एक कादर कभी-कभी पूरे (सैन्य) बल की कादरता का कारण हो जाता है। शरीर का वास्तविक राजा मन ही है। इसी की आज्ञा से शरीर तिल-तिल कट जाने से मुँह नहीं मोड़ता और इसी की आज्ञा से एक पत्ते के खड़कने से भाग खड़ा होता है। बुद्धि, अनुभव आदि इसके शिक्षक हैं। ये ही सब मिलकर इसे जैसा बनाते हैं वैसा ही यह बनता है। इच्छा इसी शिक्षित अथवा अशिक्षित मन की आज्ञा है। मन जितना ही दृढ़ अथवा डावाँडोल होगा, उसकी आज्ञा, इच्छा वैसी ही पुष्ट अथवा शिथिल होगी। जिसका मन पूर्णतया शिक्षित और स्ववश है, उसी की इच्छा मे वज्रवत् दृढ़ता होगी। बिना ऐसी इच्छा-शक्ति के कोई पुरुष पूरा वीर नहीं हो सकता। इसलिये दृढ़ता वीरत्व की सबसे बड़ी पोषिका है। जिसका मन उचित काम करने से तिलमात्र चलायमान होता ही नहीं और जो अनुचित कार्य्य देख कर बिना उसे शुद्ध किए नहीं रह सकता, वह सच्चा वीर कहलावेगा।

वीरत्व का द्वितीय पोषक न्याय है। बिना इसके वीरत्व शुद्ध एवम् प्रशंसास्पद नहीं होता। न्याय के सच्चा होने को बुद्धि

की आवश्यकता है और साधारण न्याय को उदारता से अच्छी कांति प्राप्त होती है। अतः वीरता के लिए न्यायशीलता, उदारता और बुद्धि की सदैव आवश्यकता रहती है। सच्चे वीर को अन्याय कभी सह्य नहीं होगा। हमारे यहाँ वीरता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भगवान् रामचन्द्र का है। इन्हीं को महाकवि भवभूति ने महावीर की उपाधि से भूषित करके महावीरचरित्र के नाम से इनकी जीवनी एक नाटक में लिखी है। दंडकारण्य में जिस काल आपने निश्चरों द्वारा भक्षित ब्राह्मणों की अस्थि का समूह निरीक्षण किया तो तुरन्त "निश्चर हीन करौं महि, भुज उठाय पण कीन्ह।" यही उत्साह का परमोज्ज्वल उदाहरण था, जो आपने निशाचरों से विना किसी वैर हुए भी दिखलाया। समय पर आपने यह उद्दंड पण सत्य करके दिखला दिया। इनकी इच्छा लोहे के समान पुष्ट थी, जो एक बार जाग्रत होने से फिर दब नहीं सकती थी। इच्छा और कर्म में कारण कार्य्य का सम्बन्ध है, सो कारण शिथिल होने से कार्य्य का होना कठिन होता है। कहते ही हैं कि विना दृढ़ेच्छा के सदसद्विवेकिनी बुद्धि की आज्ञा अरण्य-रोदन हो जाती है। शुभ कार्य्यारंभ के विषय में कहा है कि विघ्नभय से अधम पुरुष कोई शुभ कार्य प्रारम्भ ही नहीं करते और मध्यम श्रेणी के लोग आरम्भ करके भी विघ्न पड़ने पर उसे छोड़ बैठते है, किन्तु उत्तम प्रकृतिवाले हजार विघ्नों को दबा कर एक बार का प्रारम्भ किया हुआ शुभ कार्य्य पूरा करके ही छोड़ते हैं।

सत्यनिष्ठा भी शौर्य्य के लिए एक आवश्यक गुण है। वीर पुरुष लोभ को सदैव रोकेगा, ईमानदारी का आदर करेगा, असत्य भाषण से बचेगा, और अपना वास्तविक रूप छोड़कर कोई भी कल्पित भाव अथवा गुण प्रकट करने की स्वप्न में भी

चेष्टा नहीं करेगा। संसार में साधारण पुरुष लोकमान्यता के लालच में सिद्धान्तों को भंग करते हुए बहुधा देखे गये हैं। सिद्धान्तप्रिय पुरुष माने जाने की इच्छा लोगों की ऐसी बलवती देखी गई है कि लोगों द्वारा सिद्धान्ती माने जाने ही के लिये वे सबसे बड़े सिद्धान्तों को हँसते हुए चकनाचूर कर देवेंगे। जो लोकमान्यता के लोभ से सिद्धान्त भंग करने को तैयार नहीं है वह पुरुष सच्चा वीर कहलाने के योग्य है। इस विषय का परमोत्कृष्ट उदाहरण हमारे उपनिषदों में सत्यकाम जबाला का मिलता है। जिस काल यह पुरुषरत्न अपने गुरु के पास विद्याध्ययनार्थ उपस्थित हुआ तो उन्होंने इसके माता-पिता का नाम पूछा। सत्यकाम ने माता का नाम तो जबाला बतला दिया किन्तु पिता विषयक प्रश्न का यही सीधा उत्तर दिया कि मेरा पिता अज्ञात है क्योंकि एक बार मेरे पूछने पर मेरी माता ने कहा था कि, जिस काल तेरा गर्भाधान हुआ था उस मास मेरे पास कई पुरुष आये थे सो मैं नहीं कह सकती कि तू उनमें से किसका पुत्र है। इस उत्तर को सुन कर सत्यकाम का गुरु अवाक् रह गया, किन्तु भावी शिष्य की सत्यप्रियता से परम संतुष्ट होकर उसने आज्ञा दी कि तू ही सत्यप्रियता के कारण अध्यात्म विद्या का सर्वोत्कृष्ट अधिकारी है। इतना कह कर गुरु ने उसे शिष्य किया और सत्यकाम का जबाला नाम रख उसे अपने सब शिष्यों से श्रेष्ठतर माना। समय पर यही सत्यवादी पुरुष ब्रह्मविद्या का सर्वोत्कृष्ट पंडित हुआ। इस पुरुषरत्न का घर सत्य का अवतार था, इसका मन निर्मल था, और इसका बर्त्ताव उच्च था। इन्हीं बातों से एक जारज पुरुष होकर भी यह ब्रह्मविद्या का सबसे ऊँचा अधिकारी हुआ। इसीलिये कहा गया है कि मन, बर्त्ताव और गृह मिल कर मनुष्य का चरित्र बनाते हैं।

वीरत्व का सर्वश्रेष्ठ समय बाल वय है। जितना उत्साह

मनुष्य में इस अमूल्य काल में होता है उतना और किसी समय नहीं होता। श्लाध्य चरित्रवान् मनुष्यों को एक बालक जितना बड़ा मान सकता है उतना कोई दूसरा कभी न मानेगा। बाल वय में मन सफेद काग़ज़ की भाँति होता है। इस पर सुगमता-पूर्वक चाहे जो लिख सकते हैं। उदार चरित्रवालों में वीरपूजन की मात्रा अधिकता से होती है और ऐसा प्रति पुरुष किसी न किसी को श्लाध्य एवं महावीर अवश्य मानता है। केवल महा नीचों को ही संसार में कोई भी श्लाध्य नहीं समझ पड़ता। जिसमें श्लाध्य चरित्रपूजन की कामना बलवती होती है उसमे वीरता कम से कम बीज रूप से तो रहती ही है। स्यात् इन्हीं विचारों से हमारे यहाँ वीरपूजन की रीति चलाई गई हो। विना दूसरों के गुण ग्रहण किए लोग प्रायः उदारचेता नहीं होते। इसीलिए वीरों मे कोमलता और उदारता प्रायः साथ ही साथ पाई जाती है। प्रसन्नचित्तता भी इन्हीं बातों का एक अंग है। कहा गया है कि बुराई रोकने का पहला उपाय मानसिक प्रसन्नता है, दूसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता है और तीसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता ही है। विना इसके बुराई रुक ही नहीं सकती। मानसिक प्रसन्नता का प्रादुर्भाव प्रेमभाव से होता है। जिस व्यक्ति से हम प्रेम करेंगे, वह लौट कर हमसे भी प्रेम करेगा। इसलिये जो संसार-प्रेमी होता है उससे सारा संसार प्रेम करता है, जिससे वह सदैव प्रसन्न रहता है। ऐसी दशा मे वह बुराई किसके साथ करेगा? प्रायः देखा गया है कि अपने साथ किसी की खोटाई का मूल कल्पना मात्र होती है। हम स्वयं असभ्यता कर बैठते हैं और जब दूसरा उसके प्रतिफल में हमारे साथ असभ्यता करता है तब हम आत्मप्रेम से अंध होकर समझ बैठते हैं कि वह निष्कारण हमारे साथ खोटाई करता है। इस-लिये संभावित पुरुष को बुराई से सदैव बचना उचित है और

क्षमा से अवश्य काम लेना चाहिए, क्योंकि बेजाने हुए भी हमारे द्वारा क्षमापात्र का अपकार हो जाना सम्भव है। खोटाई और निष्फलता का पहले ही से भय कभी न करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से कोई इनको नहीं जीत सकता। इनके जीतने का सबसे सुगम उपाय आशा ही है। इसीलिये कहा गया है कि आशा न छोड़नेवाला स्वभाव भी बहुत ही मूल्यवान है।

स्वार्थ-त्याग वीरता का सबसे बड़ा भूषण है। दास भाव ग्रहण करके यदि कोई विवाह-बंधन में पड़े तो उसके इस कर्तव्य में कुछ न कुछ क्षति अवश्य पहुँचेगी। वीरवर हनुमान ने जब भगवान् का दासत्व ग्रहण किया तब आत्मत्याग का ऐसा अटल उदाहरण दिखलाया कि जीवन पर्य्यंत कभी विवाह ही न किया। इधर भगवान् ने जिस काल यह देखा कि इनकी प्रजा इनके द्वारा सीताग्रहण के कारण इन्हें उच्चातिउच्च आदर्श से गिरा हुआ समझती है, तब इन्होंने प्राणोपम अर्द्धांगिनी सती सीता तक का त्याग करके अपने प्रजारञ्जनवाले ऊँचे कर्तव्य को हाथ से नहीं जाने दिया। बालवय में भी अपने पिता की वेमन की आज्ञा मानने तक से इन्होंने तिल मात्र संकोच नहीं किया। आपने यावज्जीवन स्वार्थत्याग और कर्तव्य-पालन का ऊँचा आदर्श दिखलाया, मानो ये सदेह कर्तव्य होकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे।

कार्य्य-साफल्य साधारण दृष्टि से तो वीरता का पोषक है, किंतु दार्शनिक दृष्टि से इसका शौर्य्य से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। दार्शनिक शुद्धता प्रति वास्तविक वीर कर्म में आ जाती है चाहे वह तिल मात्र भी सफल न हुआ हो और साधारण से साधारण पुरुष द्वारा सम्पादित हुआ हो। एक साधारण सैनिक

जो अपने सेनापति की आज्ञा से मोर्चे पर शरीर त्याग देता है, दार्शनिक दृष्टि से बड़े से बड़े विजयी के बराबर है। वीरता के मूल मात्र कर्तव्य-पालन और स्वार्थत्याग हैं। विना इनके कोई मनुष्य वास्तविक वीर नहीं हो सकता। एक बार दो रेलों के लड़ जाने से एक एंजिन हाँकनेवाला अपने एंजिन में दबकर बायलर में चिपक रहा। वह मृतकप्राय था किन्तु उसके होश हवास नहीं गए थे। इसलिये वह जानता था कि बायलर जल्द फट कर उड़ेगा, सो जब और लोग उसे छुड़ाने के लिये प्रयत्न करने लगे तब उसने उन सबको वहाँ से यह कह कर खदेड़ दिया कि मैं तो मरा ही हूँ, तुम सब यहाँ प्राण देने क्यों आए हो, क्योंकि भाप के बल से बायलर अभी फटना चाहता है, जिससे सबके प्राण जायंगे। मरणावस्था में भी दूसरों के लिये इतना ध्यान रखना वीरता का बड़ा लक्षण है।

वीरत्व के लिए भय का देखना तक ठीक नहीं कहा गया है। इसीलिये हमारे यहाँ वीर को शूर कहते है कि अंधे की भाँति वह भय को देख ही न सके। बालक, स्त्री, दीन, दुखिया आदि के उद्धार में वीर पुरुष अपना जीवन तृण के समान दे देवेगा। सच्चा वीर निर्बल, भीत, कातर और स्त्री पर कभी किसी प्रकार का अत्याचार न करेगा। संसार में जिसकी पदवी जितनी ही ऊँची है, उसे उतनी ही अधिक वीरता दिखलानी चाहिए, क्योकि उसकी वीरता से संसार का बहुत अधिक लाभ हो सकता है। इन्हीं कारणों से राजा को सबसे अधिक वीर होना चाहिए। कहा भी है कि "वीरभोग्या वसुन्धरा।" फिर भी छोटे से छोटे पुरुष को भी उच्च सिद्धान्तों से तिलमात्र नहीं हटना चाहिए, क्योंकि थोड़ी-सी बुराई भी संसार में अपना फल दिखलाए विना नहीं रहती। इसीसे कहा गया है कि अनुभवी पुरुष को [illegible] से

अवगुण की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, नहीं तो थोड़ा-सा अवगुण उसमें अवश्य आ जायगा।

—मिश्र बन्धु

नोट—आजकल वीरता का आदर्श कुछ बदल गया है। महात्मा गाँधी के प्रभाव से वीरता दूसरे के मारने में इतनी नहीं है जितनी कि निर्भयतापूर्वक अत्याचारों का सामना करने में और उस पर प्रत्याक्रमण किये बिना उसके आगे सर न झुकाने में। महात्मा गाँधी हिंसा का बदला प्रतिहिंसा में नहीं बतलाते। प्रतिहिंसा का कभी अन्त नहीं होता। सच्चा वीर कष्ट सह कर अपने सद्व्यवहार और प्रेम से विपक्षी का हृदय परिवर्तन करता है।

यह आदर्श कठिन है इसके लिए दूसरों को मारने से भी अधिक वीरता चाहिए। क्षमा का अर्थ निर्बलता नहीं. महात्मा गाँधी निर्बल की क्षमा नहीं चाहते वरन् वे सबल की क्षमा के पक्षपाती हैं।

साहित्य में वीरता का आदर्श बहुत व्यापक है। युद्धवीर के साथ दानवीर, दयावीर, धर्मवीर आदि को समान आदर मिला है। कार्लायल ने प्रत्येक महापुरुष को चाहे वह योद्धा हो या लेखक, वीर माना है।

—संपादक

मिष्ट भाषण और शिष्टाचार

ऐसी बानी बोलिये मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपहुँ सीतल होय॥
आवत गारी एक है उलटत होय अनेक।
कह कबीर नहिं उलटिये वही एक की एक॥
मधुर बचन है औषधी कटुक बचन है तीर।
स्रवन द्वार ह्वै संचरै साले सकल सरीर॥

— कबीर

तृणानि भूमि रुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता
एतां सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन।

अर्थात् आसन भूमि जल और सत्य और मीठी वाणी की सज्जनों के घर में कभी कमी नहीं रहती है।

भाषा मनुष्य का विशेष अधिकार है भाषा के कारण ही मनुष्य इतनी उन्नति कर सका है। जानवर हज़ारों वर्ष से जहाँ के तहाँ बने हुए हैं; किन्तु मनुष्य उत्तरोत्तर उन्नति करता चला आया है। अन्य जानवरों की अपेक्षा मनुष्य भौतिक बल में न्यून होता हुआ भी अपनी बुद्धि और भाषा के सहारे सब से अधिक सबल हो गया है। उसने पंचमहाभूतों को अपने वश में कर लिया है; यह सब भाषा द्वारा प्राप्त सहकारिता के बल पर ही हो सका है। भाषा द्वारा हमारे ज्ञान और अनुभव की रक्षा होती है।

भाषा ही द्वारा मनुष्य की सामाजिकता कायम है; किन्तु भाषा का दुरुपयोग ही उसे छिन्न-भिन्न भी कर देती है। एक मधुर

शब्द दो रूठों को मिला देता है और एक ही कटु शब्द दो मित्रों के मन में वैमनस्य उत्पन्न कर देता है ।

अब प्रश्न यह होता है कि मधुर या मिष्ट भाषण किसे कहते हैं। साधारणतया जो वस्तु मनोनुकूल होती है, जिससे चित्त द्रवित होता है, वही मधुर कहलाती है। माधुर्य भाषा का भी गुण है। साहित्य-दर्पणकार ने कहा है कि चित्त को पिघलाने वाला जो आनन्द होता है उसे माधुर्य कहते हैं । 'चित्रद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते' ।

वचनों का माधुर्य हृदय-द्वार के खोलने की कुंजी है। मधुर वचनों का आकर्षण न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण और चुम्बक के आकर्षण से भी बढ़कर है। तभी तो तुलसीदास ने कहा है:—

कोयल का को देत है कागा का सों लेत।
तुलसी मीठे वचन ते जग अपनो करि लेत ॥

एक ही बात को हम कर्ण-कटु शब्दों में कहते हैं और उसी को हम मधुर बना सकते हैं। बाणभट्ट जब मरने वाला था तो यह प्रश्न हुआ कि उसकी अधूरी कादम्बरी को कौन पूरा करेगा। उसने अपने दोनों लड़कों को बुलाया और उनसे बुलाकर पूछा कि सामने जो सूखा वृक्ष पड़ा है उसको तुम किस प्रकार अपनी भाषा में व्यक्त करोगे ? बड़े लड़के ने कहा 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' दूसरे ने कहा 'नीरस तरुवर विलसति पुरतः' बात एक ही थी कहने कहने में फरक था। बाणभट्ट ने अपने छोटे लड़के को ही पुस्तक पूरी करने का भार सौंपा।

यह तो रही साहित्य के शब्द संयोजन की बात ! साधारण बोल-चाल में भी बड़ा अन्तर हो जाता है। भाव का प्रभावशाली भाषा में व्यक्त कर देना ही साहित्य है। जो मनुष्य एक किसी

तफ़हमी को दूर करे। जो रूठे हुए मित्र को मना लेता है, वह
ा साहित्यिक है।

वार्तालाप की शिष्टता मनुष्य को आदर का भाजन बनाती और समाज में उसकी सफलता के लिए रास्ता साफ़ कर देती है। मनुष्य का जो समाज में प्रभाव पड़ता है वह बहुत अंश में ोशाक और चाल-ढाल पर निर्भर रहता है; किन्तु चिप भरं कनफ वटों की संसार में कमी नहीं है। यह प्रभाव ऊपरी ही होता है और पोशाक का मान जब तक भाषण से पुष्ट नहीं होता है तब तक स्थायी नहीं होता। मधुर भाषी के लिए करनी और कथनी का साम्य आवश्यक है; किन्तु कर्म के लिए वचन पहली सीढ़ी है। मधुर वचन ही विश्वास उत्पन्न कर भय और आतङ्क का परिमार्जन कर देते हैं। कटु भाषी लोगों से लोग हृदय खोलकर बात करने में डरते हैं। सामाजिक व्यवहार के लिए विचारों का आदान-प्रदान आवश्यक है और वह भाषा की शुद्धता और स्पष्टता के बिना प्राप्त नहीं होता है। भाषा की सार्थकता इसी में है कि वह दूसरों पर यथेष्ट प्रभाव डाल सके। जब बुरे वचन आदमी को रुष्ट कर सकते हैं तो मधुर वचन दूसरे को प्रसन्न भी कर सकते हैं। शब्दों का जादू बड़ा ज़बरदस्त होता है।

मधुर वचनों के साथ यह भी आवश्यक है कि उनके पीछे टकसाली भाव भी हों नहीं तो मुलम्मे के सिक्कों की भाँति बेकार रहेंगे। हृदय की मलिनता और मधुर वचनों का योग नहीं हो सकता है। वचन के अनुकूल जब कर्म भी होते हैं तभी मनुष्य वन्द्य बनता है।

मनुष्य के चरित्र के असली परिचायक उसके कर्म होते हैं; किन्तु बिना मधुर वचनों के लोग दूसरों के सद्व्यवहार का भी लाभ

नहीं उठाना चाहते हैं। 'मानोहिमहतां धनम्' मान ही बड़े आदमियों का धन होता है। जो लोग बिना मान के दान देते हैं उनका दान स्वीकार नहीं होता है। मान का पान भी बहुत होता है और रहीम के शब्दों में 'अमी पियावै मान विनु सो नर हमें न सुहाय' मिष्ट भाषण समाज सेवक का एक आवश्यक गुण हो जाता है। नीति में कहा है कि जिन मनुष्यों के मुख प्रसन्नता के घर हैं, हृदय दया से परिपूर्ण है, वचन अमृतमय और काम परोपकार की भावना से प्रेरित हो वे किसके वन्दनायोग्य नहीं होते हैं अर्थात् वे सभी के आदर भाजन बन जाते हैं।

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं एषा केषां न ते वन्द्याः॥

ये गुण जन्म से तो प्राप्त होते ही हैं; किन्तु शिक्षा द्वारा भी ऐसे शुभ अभ्यास और संस्कार बनाये जा सकते हैं। मन वाणी और कर्म का सामंजस्य ही मनुष्य को श्रेष्ठता के पद पर पहुँचाता है। फिर भी वचनों का विशेष महत्व है क्योंकि एक कटु वचन सारे किये-धरे पर पानी फेर सकता है। यद्यपि यह ठीक है कि दुधार गाय की दो लातें भी सहन की जाती हैं फिर भी दूसरे के स्वाभिमान का हनन कर उसके साथ उपकार करना कोई महत्व नहीं रखता। वाणी की मधुरता के साथ विनयपूर्ण व्यवहार की भी आवश्यकता है। विनयपूर्ण व्यवहार ही शिष्टाचार है। शिष्टाचार का अर्थ लोग दिखावा या तकुल्लुफ करते हैं; लेकिन वास्तव में उसका अर्थ है सज्जनोचित व्यवहार। मधुर भाषण के साथ इसका भी मूल्य है। इसके द्वारा मनुष्य की शिक्षा-दीक्षा और कुल की परम्परा और मर्यादा का परिचय मिलता है।

शिष्टाचार वाणी का भी होता है और व्यवहार का भी। वाणी के शिष्टाचार में अपनों से बड़े से आप कहना, आप क्या

कहते हैं के स्थान में आपकी क्या आज्ञा होती है आदि वाक्य अधिक वाञ्छनीय समझे जाते हैं। किसी काम को कराने के लिए कृपया शब्द का प्रयोग शिष्टता का परिचायक होता है। काम हो जाने के पश्चात् धन्यवाद कहना भी जरूरी है। जो अपने से नीचे हैं उनसे कोई ऐसी बात न कही जावे कि उससे यह प्रकट हो कि हम उनको नीच समझते हैं। अपने से कम स्थिति के लोगों के स्वाभिमान की रक्षा करना सज्जन का पहला कर्त्तव्य है।

जो काम करना है उसको प्रसन्नता से करना चाहिए और उसके सम्बन्ध में कोई ऐसे शब्द भी न कहना चाहिए जिनसे प्रकट हो कि यह काम नाखुशी से किया जा रहा है या उस काम के करने से दूसरे के साथ अहसान किया जा रहा है। या तो दे न और कोई चीज दे तो पूर्ण उदारता से और प्रसन्नता के साथ। कम-से-कम जहाँ क्रिया में उदारता हो वहाँ 'वचने दरिद्रता' न आने देना चाहिए।

यदि इन्कार ही करना पड़े तो उसमे अधिकार और अभिमान की गन्ध न आना चाहिए। इन्कार मजबूरी के ही कारण होना चाहिए चाहे वह सैद्धान्तिक मजबूरी हो या आर्थिक। इन्कार अशिष्टता के साथ भी हो सकता है और शिष्टता के साथ भी। प्रायः लोग अशिष्टता से यह कह देते हैं जाओ! अमुक वस्तु यहाँ कहाँ से आई; तुम्हारा कोई देना आता है? घरवालों को तो जुड़ता ही नहीं तुम्हारे लिए कहाँ से लायें? इन्कार करने मे जो बातें कही जायें उनमें परायेपन का भाव न आने देना चाहिए। इन्कार करते समय खेद प्रकट करना शिष्टाचार की मांग है। कहना चाहिए कि मुझे बड़ा खेद है कि आपके लिए इन्कार करना पड़ता है। आपने यहाँ आने का या माँगने का कष्ट किया और मैं इस विषय में आपकी सेवा न कर सका।

वार्तालाप में हमको व्यापारिक या जाब्ते की बातचीत और निजी बातचीत में थोड़ा अन्तर करना होगा। व्यापारिक बातचीत भी अशिष्ट न होना चाहिए किन्तु वह नपी-तुली हो सकती है। निजी सम्बन्ध की बातचीत में आत्मीयता का अभाव न रहना चाहिए और थोड़ा-सा कष्ट उठाकर बात को पूरो तौर से समझा देना अपना कर्तव्य हो जाता है। कुछ लोग सबके साथ निजी सम्बन्ध की-सी ही वार्तालाप करते हैं यह भी बुरा नहीं है किन्तु बात उतनी ही कही जाय जितनी निभाई जा सके।

बातचीत के सम्बन्ध में नीचे लिखी बातों का ध्यान रखना वाञ्छनीय है।

१—बातचीत पात्रानुकूल तो होना ही चाहिए किन्तु वह न इतनी भावुकता पूर्ण हो कि उसकी सचाई में सन्देह होने लगे और न इतनी शुष्क हो कि वक्ता में अभिमान की गन्ध आय।

२—बात उतनी ही कही जाय जितनी का निर्वाह हो सके। झूठे वायदे न किये जायँ और न पृथ्वी पर स्वर्ग उतार कर रख दिया जाय।

३—बात करने में विनय और शिष्टाचार का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। जिससे बात कही जाय उसके पद और गौरव के अनुकूल होना आवश्यक है।

४—बात आवश्यकता, अवसर और अवकाश के अनुकूल होना चाहिए। सुनने वाले के समय का ध्यान रखना आवश्यक है।

५—बातचीत का पूरा सूत्र अपने हाथ में रखना उचित नहीं है। सुनने वाले को भी बात करने का मौक़ा दिया जाना सामाजिकता का तक़ाजा है।

६—बातचीत में यथासम्भव अविश्वास प्रकट न होने देना चाहिए।

७—बातचीत में 'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यम प्रियं' का ध्यान रखना आवश्यक है। जहाँ अप्रिय या विरुद्ध बात करना हो वहाँ भी पूर्ण शिष्टता के साथ कहना चाहिए। शिष्टता में भी दृढ़ता रह सकती है।

८—किसी शब्द या वाक्यांश को तकिया कलाम बना लेना या बात-बात में अश्लील शब्दों का व्यवहार करना या कसम खाना ये सब बातें शिक्षा की कमी की द्योतक हैं।

९—बात को स्पष्ट कहना चाहिए। द्व्यर्थक बात कहना उचित नहीं है। जहाँ दो अर्थ लगाये जाने की सम्भावना हो वहाँ अपना अभिप्राय स्पष्ट कर देना आवश्यक है। 'अश्वत्थामोहतः नरो वा कुञ्जरो वा' की दुविधा मूलक युधिष्ठिरी सत्य से यथासम्भव बचना चाहिए।

१०—आवेश में भी कोई ऐसी बात न कहना चाहिए जिसके लिए पीछे पछताना पड़े। जबान से निकली हुई बात तीर के समान है जो एक बार छूट जाने पर वापस नहीं आती। बात को पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ कहना चाहिए। वह ऐसी हो जो साधारणतया प्रमाणित की जा सके।

यद्यपि शिष्टाचार का प्रश्न बड़ा पेचीदा है और पद-पद पर ग़लती हो सकती है तथापि हमको ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने से दूसरे को अधिक महत्ता दें। दूसरों के आने पर उठ खड़े होना, जाने पर दरवाज़े तक पहुँचा देना (विशेषकर अपने से बड़ों को) पहले से प्रणाम-नमस्कार करना, मुस्कराहट से जान-पहचान का परिचय देना, बड़ों से आगे न चलना, बड़ों के साथ

चलने में उनके हाथ से सामान ले लेना, रेल या गाड़ी में पहले दूसरों को बैठने का अवसर देना, द्वार में होकर पहले अपने बड़ों को निकलने का अवसर देना; पान, इलायची, पानी, भोजन का थाल आदि पहले दूसरों के सामने रखना ये सब शिष्टता और सद्व्यवहार के अंग हैं। सब लोगों के साथ एक-सा शिष्टाचार तो नहीं दिखाया जा सकता है किन्तु बोल-चाल में यथासम्भव सब से मिष्ट भाषण करना चाहिए और उसके अनुकूल व्यवहार में भी मधुरता रहनी चाहिए। सद्व्यवहार निष्फल नहीं जाता है। प्रत्येक स्थान के शिष्टाचार में कुछ न कुछ विशेषता होती है। वाचनालय में मौन ही सब से बड़ा शिष्टाचार है। यदि कोई मनुष्य अखबार पढ़ रहा हो तो जब तक वह उसे पढ़ न ले उसके हाथ से अखबार ले लेना अशिष्टता का द्योतक होगा। अखबार का यदि कोई पन्ना खाली हो तो उसको विनयपूर्वक मांग सकते हो।

सभा-सोसाइटियों में ठीक समय पर पहुँचना, समय से अधिक न बोलना, दूसरों की शान्ति भंग न करना, बोलने वाले का उत्साह भङ्ग न करना, सावधानी से दूसरों को सुनने देना; ये सब शिष्टाचार के अंग हैं।

किसी को दूर से न पुकारना, आवश्यकता से अधिक ज़ोर से बात न कहना, राह चलती स्त्रियों की ओर न ताकना, उनसे कोई ऐसी बात न कहना जो अपमान जनक हो या शिष्टता के विरुद्ध हो, किसी के पत्र को चोरी से न पढ़ना, किसी के मकान में प्रवेश करने से पूर्व द्वार खटखटा देना या उसे सावधान कर देना; ये सब छोटी-छोटी परन्तु आवश्यक बातें शिष्टता की मॉग हैं।

खाने-पीने के शिष्टाचार में देशी और विदेशी ढंग में थोड़ा अन्तर है फिर भी ये बातें साधारणतया ध्यान में रखने योग्य हैं। खाते समय मुँह में इतना बड़ा ग्रास न देना कि मुँह चलाना

कठिन हो जाय, अपने पास किसी चीज़ के आने के लिए अधीर न हो जाना, दूसरों से पहले खाना न आरम्भ कर देना, व्यर्थ जूठा न छोड़ना, खाते समय पंक्ति से पहले न उठ बैठना, पानी आदि को न फैलाना, ऐसी बातों का उल्लङ्घन करना अशिष्टता का परिचायक होता है।

कपड़े पहनने में भी समय और अवसर का ध्यान रखना पड़ता है। प्रीति भोज में फुटबॉल की पोशाक काम न देगी। सभा सोसाइटी में केवल बनियान पहन कर पहुँच जाना शिष्टता न होगी। (महात्मा गांधी की दूसरी बात है) मैले कपड़े जो दूसरों को अरुचिकर हों स्वयं अपना ही अपमान कराते हैं और आत्म-ग्लानि उत्पन्न करते हैं। शिष्टाचार की माँग यह है कि कपड़े साफ हों और यथासम्भव मौसम को ध्यान में रखते हुए सारा शरीर ढक जाय।

सभ्य समाज में शिष्टाचार का विशेष महत्व है। शिष्टाचार सभ्य समाज का प्रवेश-पत्र है। उसका अभाव व्यक्ति को ही नहीं बदनाम करता है वरन् उसकी संस्था उसके शिक्षालय और कुल पर भी लाञ्छन का विषय बन जाता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को शील और शिष्टाचार का विशेष ध्यान रखना चाहिए। जपी, तपी, धनवान, दाता और सूर लोगों की कमी नहीं है। संसार में शीलवान पुरुष विरले ही होते हैं।

ज्ञानी ध्यानी संयमी दाता सूर अनेक।
जपिया तपिया बहुत हैं सीलवंत कोई एक॥

खेत।' महामना मालवीय, गोखले, तिलक और गाँधी भी अवसरों का लाभ उठाकर ही बढ़े हैं किन्तु और लोग उन अवसरों के होते हुए भी लाभ न उठा सके। इसका कारण यही है कि वे अपने व्यसनों में इतने मस्त थे कि अवसरों को अपने हाथ से जाने दिया।

अवसर से लाभ उठाना अवसर-वादिता (Time serving) नहीं है। अवसरवादी मनुष्य अपने सिद्धान्त में दृढ़ नहीं रहता है किन्तु अवसर से लाभ उठाने वाला मनुष्य उचित अवसर की खोज में रहता है। वह हर एक अवसर से लाभ नहीं उठाता है।

समय के सदुपयोग करनेवाले के लिए अवसरों की बाट नहीं जोहना पड़ता। छोटे से छोटा अवसर उसके लिए दुधार गाय का काम देता है क्योंकि वह समय का सदुपयोग कर उससे जितना लाभ उठाया जा सकता उतना लाभ उठाता है।

समय थोड़ा है, काम बहुत है; इसीलिए समय का सदुपयोग आवश्यक हो जाता है। यदि हमारी आयु लोमश ऋषि के समान भी हो तो भी समय को न खोना चाहिए। उससे जितना अनुभव प्राप्त किया जाय उतना करना चहिए। संसार में ज्ञान और अनुभव का अन्त नहीं है किन्तु मनुष्य जीवन सान्त है। अपनी सान्तता को ध्यान में रखते हुए समय का पूरा सदुपयोग करना आवश्यक है।

निद्रा मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है किन्तु चारपाई पर पड़े-पड़े करवटें बदलते रहना अथवा रजाई की भरक का मोह न छोड़ना मनुष्य के लिए आवश्यक नहीं। यदि मनुष्य अपने समय का सदुपयोग करे तो उसको समय के अभाव की शिका-

यत करने की गुँजाइश नहीं है। मनुष्य को काम कर लेने पर ही विश्राम की सोचना चाहिए। जो लोग पहले विश्राम कर पीछे काम करने की सोचते हैं वे उस काम को पूरा करने में कभी सफल नहीं हो सकते हैं। जहाँ हमने थोड़ा आलस्य किया, विश्राम लेना आरम्भ किया या ताश शतरंज या गप्पों में रम गये तो फिर समय का ध्यान नहीं रहता। समय अपनी द्रुतिगति से चलता रहता है। सूर्य और चन्द्र की गति को कोई नहीं रोक सकता। समय निकल जाता है या कम रह जाता है तो हम काम को अधूरा ही कर पाते हैं। जल्दी का काम शैतान का होता है। जल्दी उन्हीं लोगों को करनी पड़ती है जो अपने समय को व्यर्थ खोते हैं। इसीलिए कहा गया है :—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब्ब।
पल में परलय होइगी, बहुरि करेगो कब्ब॥

बहुत से विद्यार्थी साल भर चैन की वंशी बजाते हैं। देर तक चारपाई पर सोते रहे। चाय पानी के साथ गप्पाष्टक का भी क्रम जारी रक्खा। स्नान भी लिए दिये किये, भोजनों को भी नौकरों को डाटते-फटकारते खाया और फिर स्कूल या कॉलेज गये। वहाँ अध्यापकों की शिक्षा को सुनी-अनसुनी कर दिया। अधूरे नोट लिखे, छपे हुए नोटों का भरोसा किया। कॉलेज में मास्टरों की बुराई-भलाई की या मैचों या सिनेमाओं की आलोचना की। लौटकर आये टेनिस खेले, उसके पश्चात् खाना खाकर या बिना खाये ही सिनेमा गये या ताश खेले, गप्पाष्टक लड़ाई या कविताएँ लिखीं। इस प्रकार के कार्यक्रम में विद्यार्थियों के शिशिर वसन्त बीतते हैं। इम्तहान के दिन निकट आने पर नोट और परीक्षकों के स्कूल या कॉलेज से आये हुए 'हिन्टों' अर्थात् संकेतों

को वेदवाक्य की भाँति प्रमाण मानकर उनके आलोक में तैयारी की। विषय का ज्ञान अधूरा ही रहा और जो कुछ रटा-रटाया ज्ञान प्राप्त किया उसका परीक्षा भवन में वमन कर देने के पश्चात् उससे अपना पल्ला छुड़ाया। यही आजकल साठ प्रतिशत विद्यार्थियों की शिक्षा है।

अच्छी शिक्षा के लिए नित्य के भोजन की भाँति नित्य का अध्ययन समय विभाग के अनुकूल आवश्यक है। व्यसनों के लिए समय रक्खा जाय किन्तु पहले अध्ययन फिर व्यसन। कोर्स की किताबों के विधिवत् अध्ययन के लिए दो साल पर्याप्त नहीं होते किन्तु यदि उन पुस्तकों का विधिवत् अध्ययन किया जाय तो वह अपने विषय का पण्डित हो सकता है। यह तभी हो सकता है जब वह अपने समय का सदुपयोग करे।

समय का सदुपयोग विद्यार्थी जीवन के लिए ही आवश्यक नहीं है वरन् गार्हस्थ जीवन के लिए भी उतना ही आवश्यक है। अपने उद्योग-धन्धे के लिए योग्यता प्राप्त करना पड़ती है और हाथ-पैर पीटने पड़ते हैं—'नहिं सुप्तस्य सिंहस्य प्रवशन्ति मुखे मृगाः' समय का एक-एक क्षण सम्भावनाओं से भरा रहता है। समय का नष्ट करना उन सम्भावनाओं को हाथ से खोना है।

जो मनुष्य दीर्घसूत्री होता है, आज के काम को कल पर टालता है वह जीवन में कभी सफल नहीं होता है। समय किसी की बाट नहीं जोहता है। उसको आगे से पकड़ना होता है। Catch time by the fore lock.

महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद अपने समय के एक-एक मिनट की रक्षा करते हैं, तभी वे इतने काम करने में सफल होते हैं। कार्नेगी, रोकफेलर, हेनरी फोर्ड, बिड़ला आदि

केवल भाग्य के सहारे ही धन कुवेर नहीं बन गये। इन्होंने अपने समय को परिश्रम से सफल बनाया। महात्मा गाँधी तो बात चीत करने में भी तकली कातते रहते हैं और व्यर्थ बात चीत करने से बचने के लिए ही वे सप्ताह में एक बार मौनव्रत धारण करते हैं। समय के सदुपयोग मे समय की पावन्दी भी एक आवश्यक अंग है। समय की पावन्दी से अपना ही समय नहीं बचता है दूसरों का भी समय नष्ट होने से बचता है। जो लोग समय के पावन्द नहीं हैं तथा सोसाइटियों में देर से जाते हैं यदि वे नेता हैं तो दूसरों का समय नष्ट करते हैं और शोर गुल के उत्तरदायी बनते हैं। यदि वे साधारण पुरुष हैं तो बीच में पहुँच कर सभा के कार्यक्रम में बाधा डालते हैं, अथवा लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर उनके सावधानी पूर्वक सुनने में बाधक होते हैं।

समय के सदुपयोग करने में हमको टालमटोल न करना चाहिए। जिन्दगी और मौत अपने हाथ की बात नहीं है। गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।

सद्व्यसन

व्यसन शब्द प्रायः बुरे अर्थ में ही आता है। जुआ, चोरी, शराब पीना आदि व्यसन अवश्य बुरे हैं किन्तु व्यायाम, कुश्ती, पर्यटन, साहसी कार्य, संगीत, कविता करना, चित्रकारी, बढ़ई गीरो, मूर्ति संग्रह आदि व्यसन अच्छे कहे जा सकते हैं।

हमारा मन विश्राम और विषय का परिवर्तन चाहता है। एक ही विषय पर मन लगे रहने से जी ऊब जाता है। मनुष्य को आवश्यक कार्य, जैसे ईश्वराराधन, आजीविका उपार्जन अथवा समाज सेवा के कर लेने पर भी कुछ समय बचता है। उसके सदुपयोग का प्रश्न रहता है कि वह उस समय क्या करे। ख़ाली बैठता है तो दूसरो की बुराई-भलाई करता है या कोई षड्यंत्र रचता है. ख़ाली दिमाग़ शैतानी कारखाना बन जाता है। (An idle man's mind is the devil's workshop) इस कारण उस ख़ाली समय के लिए मन को व्यस्त रखने के अर्थ कुछ गोरख-धन्धा चाहिए।

इसके अतिरिक्त मनुष्य को बुरे व्यसनो से बचाने के लिए कोई दूसरा व्यसन ही वाञ्छनीय है। वे व्यसन कौन से होना चाहिए। इन व्यसनों के सम्बन्ध में सब से पहली बात तो यह है कि इनका अनुशीलन इस हद तक न पहुँच जाय कि ये धर्म और अर्थ के उपार्जन में बाधक हों। कविता कर रहे हैं तो दिन रात काग़ज़, पेन्सिल लिए बैठे ही रहते हैं, न जीविका उपार्जन की फ़िक्र है न बाल-बच्चों की ख़बर है। बिचारी गृहणी गार्हस्थिक आवश्यकताओं

के अभाव के कारण अपने भाग्य को कोसती है, ऐसी स्थिति में कविता करना या चित्रकारी करना दुर्व्यसन बन जाता है। समाजोपकारी कार्यों मे भी जैसे समाज सेवा, राजनीतिक कार्य अथवा वैज्ञानिक अनुसन्धान में घर की चिन्ताओं को भूल जाना एक सीमा तक क्षम्य माना जाता है; किन्तु जिसने अपने ऊपर गृहस्थी का भार ले लिया है उसको अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना ही पड़ता है। समाज के सभी लोग ब्रह्मचारी नहीं रह सकते है।

जो व्यसन अपनाये जायँ उनमे यथासम्भव कुछ उपयोगिता भी हो तो अच्छा है। (जैसे बढ़ईगीरी के काम को एक कला के रूप में अपनाना) वैसे तो बहुत-सी चीजें ऐसी हैं जिनका भौतिक उपयोग नहीं है; किन्तु मानसिक उपयोग है; उनको भी हम सुविधा पूर्वक अपना सकते हैं। संगीत ऐसा ही व्यसन है। संगीत से मानसिक प्रसन्नता और शान्ति मिलती है। कहीं-कहीं तो संगीत का प्रयोग मानसिक रोगो के अच्छा करने में भी होता है। कविता करना भी संगीत की कोटि में आता है। उसका प्रभाव संगीत की अपेक्षा दूर तक पहुँचता है और चिरस्थायी भी होता है। रेडियो की बदौलत संगीत का प्रभाव भी दूर व्यापी हो गया है, फिर भी उसमे इतना स्थायित्व नहीं (जब तक उसकी कार्ड न बना ली जायँ) जितना कि कविता में। कविता का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों ही हो सकते हैं। हम शृङ्गार का बहिष्कार तो नहीं चाहते हैं किन्तु उसमें संयम और मर्यादा की आवश्यकता है। शुद्धकला की दृष्टि से भी कविता प्रसन्नता का साधन बन सकती है किन्तु उपयोगिता की दृष्टि से देश-प्रेम को प्रोत्साहित करनेवाली कविताएँ तथा शोषितों और पीड़ितों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने वाली रचनाओ का अधिक महत्व है। इसका

यह अभिप्राय नहीं कि कला की दृष्टि से कविता का अनुशीलन बिलकुल छोड़ ही दिया जाय।

चित्रकारी और फोटोग्राफी भी ऐसे व्यसन हैं जिनको उपयोगी बनाया जा सकता है। फोटोग्राफी द्वारा हम अपने दूसरे भाइयों को जो यात्रा करने में असमर्थ हैं यात्रा का लाभ दे सकते हैं। चित्रकारी का उपयोग पोस्टर आदि बनाने में हो सकता है, लेकिन हमारा यह अभिप्राय नहीं कि मनुष्य हर समय उपयोगिता का ही ध्यान रक्खे। मन की प्रसन्नता भी एक सबसे बड़ा उपयोग है। फोटोग्राफी अच्छा व्यसन है किन्तु ख़र्चीला अवश्य है। सीमित आय के लोगों के लिए यदि वे उसे उपयोगी न बना सके तो इस व्यसन को अधिक प्रोत्साहन न देना चाहिए।

बाग़वानी के व्यसन में उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों का समन्वय हो सकता है। बाग़वानी में फूल और शाक-भाजी तो उत्पन्न किये जाते ही हैं किन्तु उसमें हाथ से काम करने और थोड़े मृदु व्यायाम का भी अवसर मिल जाता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए कुछ न कुछ हाथ से काम करना आवश्यक है। बाग़वानी ख़र्चीला व्यसन भी है और बिना ख़र्च का भी। हाथ से काम करने वाले लोगों के लिए वह अल्प व्यय साध्य है। इसमें प्रकृति बहुत कुछ सहारा दे सकती है। जिसके पास थोड़ी-सी भी ज़मीन है यानी दस-बीस गज़ मुरब्बा ज़मीन भी है वह भी अपने लिए कुछ न कुछ उत्पादन कर सकता है। सेम, तोरई, घीया, काशीफल आदि बेल की तरकारियाँ कम स्थान घेरती हैं। जड़ के लिए थोड़ी ज़मीन चाहिए फिर वे दीवाल या छप्पर पर चढ़ जाती हैं।

बीजों की भी समस्या बहुत कठिन नहीं है। बहुत-सी चीज़ों के बीज तो घर ही में उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे पक्के टमाटरों में

से टमाटर के बीज निकल आते हैं। पपीते का भी बीज खाने के पपीतों मे से सहज में मिल जाता है। आम के आम और गुठली के दाम की बात सार्थक हो जाती है। कभी-कभी करेलों में से भी जब रक्खे-रक्खे पक जाते हैं बीज प्राप्त हो जाते हैं। सरसों का बीज गेहूँ के छानन-बीनन मे से मिल जाता है।

जो बीज इस प्रकार नहीं मिल सकते वे सहज में खरीदे जा सकते हैं। बीज बहुत सस्ते मिलते हैं। पालक, मूली, गाजर, लौकी, काशीफल आदि के बीज प्रायः मामूली पंसारियों से सस्ते मिल जाते हैं। हर एक बड़े शहर मे बीज बेचनेवाले भी होते हैं, नहीं तो बाहर से भी मँगाये जा सकते हैं। बाग़बानी के लिए खाद और पानी की समस्या रह जाती है। जिन लोगों के यहाँ जानवर होते हैं उनके यहाँ गोबर का खाद सहज में ही बन जाता है। सूखी पत्तियों, छिलकों आदि का भी खाद उनको जमीन में गाड़ कर बनाया जाता है। बरसात में तो पानी की प्रायः जरूरत नहीं होती (जहाँ बरसात कम होती है वहाँ की दूसरी बात है) और स्नानादि में जो पानी ख़राब जाता है उसका बाग़बानी में सदुपयोग किया जा सकता है। पानी अगर सब्जी को मिलता रहे तो बाक़ी काम प्रकृति स्वयं कर लेती है। प्रकृति की देन बहुत बड़ी है। उसकी ब्याज बनिए की ब्याज से कहीं अधिक होती है। बनिए की ब्याज सोते जागते दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती है किन्तु प्रकृति की देन थोड़ा जागरण चाहती है।

सब्जी भाजी उत्पन्न हो जाने पर उनके संचयन में बड़ा आनन्द आता है। उनका महत्त्व बाज़ार की ख़रीदी हुई शाक-भाजी से अधिक होता है। उनमें अपने परिश्रम से उत्पन्न किये हुए का भाव लगा रहता है और उन पर हम गर्व भी कर सकते

हैं। इधर-उधर पत्तों में छिपी हुई फलियों और सब्जियों की तलाश में मनुष्य की खोज वृत्ति का भी तोष हो जाता है। जो आनन्द शिकारी को शिकार खेलने में आता होगा वह शाक-भाजी की खोज और संचयन में शाक-भाजी के उत्पन्न करने वाले को आता है।

ऐतिहासिक वस्तुओं, अजूबा चीजों आदि का संग्रह भी बड़ा रोचक व्यसन है। मूर्तियाँ, पत्थर, बर्तन, कपड़े, शंख, घोंघे आदि का संग्रह घर की शोभा ही नहीं बढ़ाते वरन् उनसे इतिहास, भूगोल और प्रकृति का ज्ञान भी बढ़ता है। इस प्रकार के संग्रहों के लिए यात्रा अपेक्षित है। यात्रा भी स्वयं एक प्रकार का व्यसन बन जाता है। भूगोल का व्यवहारिक ज्ञान यात्रा द्वारा ही होता है। यदि यात्राओं में पैदल चलने का भी काम हो तो उनसे स्वास्थ्य और साहस की भी वृद्धि होती है और प्रकृति का निकटतम परिचय मिलता है। साहसी यात्राओं का करना हर एक मनुष्य का काम नहीं किन्तु जो लोग शारीरिक बल और हृदय का साहस रखते हैं वे इन यात्राओं द्वारा न केवल अपना गौरव बढ़ाते हैं वरन् देश का भी गौरव बढ़ाते हैं। वे संसार के ज्ञान की वृद्धि करते हैं।

वैज्ञानिक अनुसन्धान या ऐतिहासिक अनुसन्धान भी व्यसन के विषय बनाये जा सकते हैं। हम लोग परीक्षा समाप्त करने के बाद अपनी शिक्षा को समाप्त-सी समझ लेते हैं। जो लोग शिक्षा विभाग में काम करते हैं वे लोग तो ऐसे अनुसन्धान सहज मे कर सकते हैं किन्तु बहुत से अध्यापक भी अपने विद्यार्थियो को केवल परीक्षा पास कराना ही जानते है। अनुसन्धान के कार्यों में न स्वयं रुचि लेते हैं और न अपने विद्यार्थियों को प्रोत्साहन देते हैं। वे अपने व्यवसाय को लज्जित करते है।

व्यायाम और खेल ऐसे निरापद और उपयोगी व्यसन हैं जिनको हर एक आदमी को स्वास्थ्य के हित अपनाना चाहिए। टहलना सबसे मृदुलतम व्यायाम है। इसको बच्चे और बूढ़े भी अपना सकते हैं। इसको भी यथा सम्भव एकाकी होने से बचाये रखना चाहिए। यदि दो चार आदमी साथ टहलने जाते हैं तो उसमें व्यायाम-सा नहीं मालूम होता है और चित्त भी अधिक प्रसन्न रहता है। प्रातः पर्यटन में हमको प्रकृति की अपूर्व रंग-विरंगी छटाओं के देखने का अवसर मिलता है साथ ही धूल और गन्दगी से साफ़ और शुद्ध वायु मिल जाती है।

कुश्ती, लेजम आदि व्यायाम शरीर गठन और स्फूर्ति के लिए उपयोगी हैं किन्तु इनके सम्बन्ध में अति सर्वत्र वर्जयेत् का ध्यान रखना आवश्यक है। इनको भी एकान्त में न करके बगीची आदि में सामूहिक रूप से करना अधिक वाञ्छनीय है।

टेनिस फुटबॉल क्रीकेट आदि का अनुशीलन समय और आय के अनुकूल होना चाहिए। फुटबॉल तो अल्प व्यय साध्य है किन्तु टेनिस में कुछ ख़र्चा अधिक है। इन खेलों की विशेषता यह है कि इनमें सामाजिकता कुछ बढ़ती है। कबड्डी आदि देशी खेलों को प्रोत्साहन देकर अधिक सुव्यवस्थित बनाया जा सकता है।

मनुष्य को परिवार का पालन करना भी आवश्यक है उसीके साथ सामाजिक सम्बन्धों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इन खेलों द्वारा मनुष्य की सामाजिकता बढ़ सकती है और सहनशीलता, परिश्रमशीलता, उदारता आदि गुणों का अनुशीलन भी हो सकता है।

योग्यतानुकूल व्यवसाय चुनना

हर एक मनुष्य के लिए किसी न किसी व्यवसाय, रोजगार, धंधे अथवा पेशे की आवश्यकता है और अपने लिए बुद्धिमत्ता-पूर्वक व्यवसाय चुनने में ही मनुष्य-जीवन का सफल होना न होना अवलम्बित है। ऐसे बहुत ही थोड़े—हजारों में एक—मनुष्य होंगे जिन्हें जीवन-निर्वाह के लिए कुछ उद्योग नहीं करना पड़ता अर्थात् जिनके पास आवश्यकता से बहुत ही अधिक संपत्ति होती है। परन्तु ऐसे मनुष्यो को भी अपने लिए कुछ न कुछ कार्य चुनने की आवश्यकता पड़ती है। इसका कारण यह है कि ऐसे मनुष्यों को उदरपूर्ति के लिए भले ही कष्ट न उठाना पड़े, परन्तु अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए तथा उसे आलस्य से बचाने के लिए, इच्छा न होने पर भी कुछ काम करना ही पड़ता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जीवन काम करने के लिए ही बनाया गया है, और धनवान् तथा धनहीन कोई भी मनुष्य इससे बच नहीं सकता।

यद्यपि इस बात की सत्यता विवाद रहित सिद्ध है कि प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ व्यवसाय या कार्य करना ही पड़ेगा, तथापि बहुत से युवकों को इस बात में डर और घृणा होती है। वे अपने माता-पिता का पिंड नहीं छोड़ना चाहते और रोटी के प्रश्न को स्वयं हल करने में बेइज्जती समझते हैं। परन्तु उन्हें भी कभी न कभी, जल्दी अथवा देरी से, कुछ कार्यारम्भ करना ही पड़ता है। इसलिए प्रत्येक युवक का, जो संसार में प्रवेश

करके विजय-कामना रखता हो, यह कर्त्तव्य है कि वह शीघ्र ही इस बात का निश्चय करले कि वह अपनी सारी शक्तियों को किस काम में लगावेगा। अनिश्चित अवस्था में रह कर विलम्ब करने और व्यर्थ समय खोने से कुछ लाभ न होगा।

बहुत से मनुष्य सुख का अर्थ नहीं समझते। वे कार्य के अभाव अर्थात् आलस्य के साथ समय बिताने को सुख का साधन समझते हैं। यह एक बड़ी भारी भूल है। कहा जाता है कि उद्योग-रहित और कार्यहीन मनुष्यों का मन शैतान का निवास-स्थान होता है। भारतवर्ष में एक बड़े भारी अधिकारी को यह आज्ञा मिली कि "अब तुम्हारे नौकरी के दिन पूरे हो गये। तुमने ईमानदारी से काम किया, इसके उपलक्ष्य में तुम्हे पेंशन मिला करेगी।" जब उसे यह आज्ञा मिली तब वह बहुत ही ख़ुश हुआ। ख़ुशी इस बात की थी कि उसे अब काम नहीं करना पड़ेगा और मजे में दिन काटने का अवसर मिला करेगा। उसने ख़ुशी के आवेश मे अपने एक मित्र को यह पत्र लिख भेजा, "अब मैंने दिन-भर के झंझटों से छुट्टी पाई। रात-दिन काम करने से जी ऊब गया था। अब मुझे दस गुनी तनख्वाह मिले तो भी मैं काम न करूँगा। दो-चार आठ दिन बीत जाने पर जब उसे बैठे-बैठे ख़राब मालूम होने लगा और जब उसने देखा कि काम किये विना आलस्यपूर्ण जीवन बड़ा ही दुखदायी होता है, तब उसने फिर अपने उस मित्र को शोक के साथ लिखा कि "भाई! मैं मूर्खता से यह समझता था कि काम न करने ही में आनन्द है। परन्तु बात बिल्कुल उलटी है। अब मुझे साफ़-साफ़ मालूम हो रहा है कि मेरा पूर्व जीवन बहुत ही उत्तम और सुख-पूर्ण था। जितना ही अधिक काम करना पड़ता था उतना ही अधिक सुख मिलता था।" सारांश यह है कि हाथ पर हाथ

धर कर बैठे रहना मनुष्य के देह-धर्म के विरुद्ध है। मनुष्य का मन पनचक्की के समान है। जब उसमें गेहूँ डालते जाओगे तब वह गेहूँ को पीस कर आटा बना देगी। परन्तु जब उसमें गेहूँ न डालोगे तब वह स्वयं अपने आपको पीस-पास कर क्षीण बना डालेगी। एक तत्वज्ञानी के इस कथन से हम भी पूर्णतया सहमत हैं कि "बहुत कम मनुष्य लोभ के कारण जुआरी या शराबी हुआ करते हैं। उनमें से अधिकाँश ऐसे मनुष्य हुआ करते हैं जो कुछ काम न करने के कारण केवल समय बिताने के लिए ही जुआ खेलते या शराब पीते हैं।"

जब यह निर्विवाद सिद्ध है कि काम न करना अथवा आलस्यपूर्ण जीवन बिता देना देहधर्म के विरुद्ध है, तब हमारा यही कर्त्तव्य है कि हम कुछ न कुछ अच्छा व्यवसाय अपने लिए पसंद करें। यह व्यवसाय हमारे मन, इच्छा, कार्यशक्ति और स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए। स्वाभाविक प्रवृत्ति के प्रतिकूल व्यवसाय करने में सफलता कभी हो नहीं सकती। विचार करने की बात है कि जिस मनुष्य को ईश्वर ने जन्म-सिद्ध चित्रकार बना कर भेजा है उसे यदि किसी कारण से उसका पिता विश्व-विद्यालय में पढ़ा-पढ़ा कर डिग्री दिलाना चाहे तो यह कभी हो सकता है? इधर प्रोफ़ेसर साहब उसे किताब की बड़ी-बड़ी बातें समझायेंगे और इधर वह लड़का प्रोफ़ेसर साहब की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और हलचलों का चित्र अपने मन में खींचता जावेगा। मनुष्य-जीवन के असफल होने के दो मुख्य कारण हैं—पहला यह कि वह कभी-कभी अपनी स्वाभाविक कार्यशक्ति के विरुद्ध व्यवसाय में लग जाता है। दूसरा कारण यह है कि मनुष्य व्यवसाय-कुशल हुए बिना ही अपने कार्यों को शुरू कर देता है। परन्तु जब तक कार्यकुशलता और कामचलाऊ अनुभव

न हो जाय तब तक एकाएक कोई काम शुरू न करना चाहिए। यह सच है कि अनुभव और कुशलता जल्द नहीं आती परन्तु इन्हें दृष्टि के बाहर जाने नहीं देना चाहिए।

ऊपर कहा जा चुका है कि जीवन-संग्राम में मनुष्य अमुक दो कारणों से असफल होता है। परन्तु हमारे भारतवर्ष में एक और तीसरा कारण देखा जाता है। इस देश के लिखे-पढ़े शिक्षित लोग केवल मानसिक और मौखिक कार्य करना अधिक पसन्द करते हैं। उन लोगों में शारीरिक व्यवसायों से एक प्रकार की घृणा उत्पन्न हो गई है। ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। एक मनुष्य आठ रुपये माहवार में म्युनिसिपल नाके का मुंशी बन कर कान में कलम दबा रखने में अपने जीवन की अच्छाई समझता है, परन्तु अन्य शारीरिक कार्य करके अधिक द्रव्य पैदा करने में उसे लज्जा मालूम होती है। भारतवर्ष में बाबू साहिबी की बीमारी दिनों-दिन बढ़ रही है और शोक के साथ कहना पड़ता है कि यदि किसी ने इस मर्ज़ की दवा शीघ्र न निकाली तो यह बीमारी असाध्य हो जायगी। स्मरण रहे कि शारीरिक श्रम करने से और अपनी कर्मेन्द्रियों को किसी उपयोगी कार्य में लगा देने से ही शिक्षित-समाज अपने देश के लिए आदर्श हो सकता है। विद्यार्थियों को उचित है कि वे इस बात पर ध्यान दें और शारीरिक श्रम से घृणा न करें।

ऊपर इस बात की आवश्यकता बतलाई जा चुकी है कि हर एक मनुष्य को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति और कार्यशक्ति के अनुकूल व्यवसाय चुनना चाहिए। अतएव जो मनुष्य संसार में सफलता प्राप्त करना चाहता है, उसका पहला कर्त्तव्य इस बात का ज्ञान प्राप्त करना होगा कि उसकी रुचि किन कार्यों की ओर अधिक है। बहुत से मनुष्य इस बात की कोई आवश्यकता नहीं

समझते कि कोई भी युवक अपनी प्रवृत्तियों को जान कर उनके अनुसार काम करे। उनका यह सिद्धान्त है कि हर एक मनुष्य कोई भी कार्य कर सकता है। अपनी प्रवृत्ति का ज्ञान प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल परिश्रम करना पड़ेगा। लॉर्ड चेस्टरफील्ड का भी यही मत था। वे कहा करते थे कि अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा कार्यशक्तियों को जानने की कोई आवश्यकता नहीं है। कोई भी युवक केवल परिश्रम से विद्वान्, सुवक्ता, राजनीतिज्ञ, यशस्वी, ख़ूबसूरत इत्यादि सभी कुछ (परन्तु कवि नहीं) बन सकता है। बल्कि वे यहाँ तक कहते थे कि मिहनत करने पर मनुष्य यदि अच्छा कवि न भी बन सके, तो ख़ासा तुकबन्द अवश्य बन सकता है। उनके कथन का सारांश यही है कि कोई भी मनुष्य कवि, ग्रंथकार, राजनीतिज्ञ अर्थात् कुछ भी बनाया जा सकता है। अपने इसी सिद्धान्त के अनुसार लॉर्ड चेस्टरफील्ड ने अपने लड़के स्टैनहाप को, जो कि बड़ा सुस्त, कार्य-शिथिल और असावधानतापूर्ण था, एक समय गुप्तचर बनाना चाहा। इन्होंने इसके लिए वर्षों तक परिश्रम किया। परन्तु फल वही हुआ जो ऐसी अवस्थाओं में सदैव हुआ करता है। लड़का उम्र भर ज्यों का त्यों रहा। उसकी योग्यता न बढ़ी। इसलिए स्वाभाविक प्रवृत्तियो का जानना परम आवश्यक है, और इसके जानने में कोई भी कठिनाई नहीं है। प्रायः हर एक लड़के की बाल्यावस्था के कार्यों से यह जाना जा सकता है कि वह भविष्य में किस तरह का मनुष्य होगा। जो लड़का कालिदास बनने को पैदा हुआ है वह छोटी उम्र में भी अच्छी कविता कर सकता है। जो भविष्य में शिवाजी बनता है वह बचपन मे लड़कों की सेना बना कर सेनापति का कार्य भी किया करता है। और जो भविष्य में विख्यात अमीरअली ठग बनता है वही लड़का बचपन में पहले पहल "भुट्टे चुरा कर" अपना

पहला पाठ सीखता है । कहने का तात्पर्य यही है कि किसी की बाल्यावस्था के कार्यों और प्रवृत्तियों को देख कर यह सरलता-पूर्वक जाना जा सकता है कि यह लड़का आगे चल कर किस प्रकार का मनुष्य होगा ।

जब यह मालूम हो जाय कि अमुक लड़के की अच्छी प्रवृत्ति किस ओर है, तब सब से आवश्यक कार्य यह रह जाता है कि उसको उसी कार्य में अच्छी शिक्षा मिले । अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुकूल योग्य और उदार शिक्षा पाने पर मनुष्य अपने व्यवसाय मे थोड़े ही परिश्रम से सर्वश्रेष्ठ हो सकता है। हाँ, कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि किसी मनुष्य के भविष्य जीवन का पूर्व प्रतिविम्व उसकी बाल्यावस्था में नहीं दीखता। परन्तु ऐसे निन्दात्मक उदाहरण बहुत कम पाये जाते हैं ।

जिस तरह इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में एक-एक विशेष गुण रहता है उसी तरह प्रत्येक मनुष्य में भी कुछ छिपे कार्य करने की शक्ति अवश्य ही रहती है। यह शक्ति अथवा स्वाभाविक प्रवृत्ति चाहे किसी विशिष्ट अवस्था अथवा परिस्थिति मे न भी मालूम हो सके, परन्तु वह ऐसी दृढ़ और उत्कट होती है कि वह आप ही आप प्रकट हो जाती है। उसे कोई छिपा नहीं सकता।

जब हम अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार कोई व्यवसाय चुन लें तब फिर हमे उसमें हजारों बाधाओं के होने पर भी लगे रहना चाहिए। बहुधा युवावस्था में कुछ कष्ट, उदासीनता अथवा अकृतकार्यता होने से युवकगण हताश होकर अपने इच्छित व्यवसाय को यह समझ कर छोड़ देते हैं कि कदाचित् वे किसी दूसरे व्यवसाय मे लग जाने से अधिक सफलीभूत होंगे। परन्तु यह बड़ी भारी भूल है। हमें सर्वदा यही उचित है कि हम जिस

धन्धे को अपने लिए एक बार चुन लें फिर उसे कभी न छोड़ें; उसी में दृढ़ता-पूर्वक लगे रहें। जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए अपनी प्रवृत्तियों के अनुकूल व्यवसाय चुनने की जितनी जरूरत है उससे बढ़कर उसमें दृढ़तापूर्वक लगे रहने की भी है। कठिनाइयों के उपस्थित होने पर यह विचार करना मूर्खता है कि हम किसी दूसरे व्यवसाय में अधिक सफल हुए होते। जब अपने व्यवसाय को छोड़कर दूसरे धंधे मे लगने के लिए जी ललचाता है तब उस दूसरे धंधे के केवल गुण और लाभ ही दृष्टिगत हुआ करते हैं और अपने धंधे के केवल दोष और हानि। पर ऐसा होना सम्भव नहीं है। हम जिस गुलाब को देखेंगे उसी में काँटे मिल सकते है। इसलिए अपने एक बार के दृढ़ निश्चित व्यवसाय को बिना समझे-बूझे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। नहीं तो लेने के देने पड़ जायेंगे और यही हालत होगी कि "न ख़ुदा ही मिला न विसाले सनम, न इधर के हुए न उधर के हुए।" इसलिए हमें किसी व्यवसाय के चुनने अथवा छोड़ने मे चंचलता अथवा जल्दी नहीं करनी चाहिए। कभी-कभी जब मनुष्य अपने व्यवसाय में हजार प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं होता तब उसे अपना व्यवसाय बदल कर दूसरा चुनने की आवश्यकता अवश्य होती है। परन्तु इससे यह भो सिद्ध होता है कि उसने अपने व्यवसाय को चुनने मे बड़ी ग़लती की। ऐसी ग़लतियाँ कई कारणों से—बुरी संगति, अचानक घटना, माता-पिता की बुद्धिहीनता अथवा अधूरी शिक्षा के कारण बहुधा हुआ करती हैं। परन्तु युवावस्था में मन बहुत चंचल रहता है। किसी काम को ख़ूब सोच-समझ कर करना चाहिए। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि अनेक युवक उस कार्य को करते हैं जिसमें वे कभी सफल नहीं हो सकते और कुछ युवक भ्रमवश उस व्यवसाय को छोड़ बैठते हैं जिसमें

थोड़े ही अधिक परिश्रम से वे सफलीभूत हो गये होते। ध्यान रखने की बात है कि जो व्यवसाय किसी भी दृष्टि से जितना ही अधिक अच्छा होगा, उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए उतना ही अधिक समय और परिश्रम भी लगेगा। हाँ, जिस राह से हम जा रहे हैं उस राह में यदि सिंह मिल जाय तो हमारा यह सोचना बिल्कुल स्वाभाविक होगा कि उस रास्ते के सिवा संसार में अन्य किसी रास्ते में सिंह आ ही नहीं सकता, परन्तु विना परिश्रम के कुछ भी नहीं मिल सकता। इसलिए बाधाओं का सामना करते हुए अपने एक बार के चुने हुए व्यवसाय में दृढ़तापूर्वक लगे रहना अच्छा है। इसी तत्त्व के आधार पर हमारे पूर्वजों ने वर्णाश्रम-धर्म की रचना की है, जिससे समाज के सब व्यवसाय उचित रीति से हुआ करें और इसी तत्त्व के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया है कि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"।

इस लेख को समाप्त करने के पहले विद्यार्थियों को यह बतला देना आवश्यक है कि तुम्हें इच्छा अथवा आवश्यकता के कारण जिस व्यवसाय को करना पड़े उसे घृणा की दृष्टि से मत देखो। बहुत से युवक अपनी योग्यता की डींग हाँके विना सन्तुष्ट नहीं होते। वे कहा करते हैं कि यदि हम उस व्यवसाय में न होते तो बहुत ही यशस्वी होते। उनका ईश्वर के सामने यही रोना रहता है कि उसने हमको अपनी अपूर्व योग्यता का प्रकाश करने का अवसर ही न दिया। अपने साथियों को सदैव अपनी योग्यता के विषय में व्याख्यान देकर ऐसे युवक कहा करते हैं कि हमें अपनी योग्यता को बरबाद करना पड़ रहा है, ग्रहदशा अच्छी नहीं है, साधन और संयोग प्रतिकूल हैं इत्यादि। परन्तु यह युवकों की बड़ी भारी भूल है। इस तरह के व्यर्थ की बकवाद के कारण

दुनिया उन्हें व्यर्थ बातें करना (अपनी बातें करना) समझ कर उनका तिरस्कार करेगी, क्योंकि दुनिया की तो आज तक यही समझ है कि जिसमें थोड़ी-बहुत आश्चर्य-जनक योग्यता विद्यमान है वह मनुष्य उसे किसी न किसी तरह से संसार को अवश्य ही दिखा देगा। इसलिए अपने व्यवसाय की तुच्छता की शिकायत करते रहने के बदले उसे उच्च और कुलीन बनाने के प्रयत्न में मनोयोग-पूर्वक लगे रहने से अधिक लाभ और ख्याति की सम्भावना है। उस व्यवसाय को तुम अपने किसी पाप का प्रायश्चित मत समझो, केवल कर्त्तव्य समझ कर उसके सम्पादन में दत्तचित्त हो जाओ। फिर सफलता दूर नहीं रहेगी। —माधवराव सप्रे

विशेष—हमारी अधिकांश शिक्षा निरुद्देश्य होती है। हमारे बहुत से विद्यार्थी उस यात्री की भाँति होते हैं जो यह नहीं जानता है कि उसे कहाँ जाना है। बालक की रुचि निश्चित हो जाने पर उसकी शिक्षा का क्रम भी उसके अनुकूल निर्धारित होना आवश्यक है।

व्यवसाय के चुनाव में हम रूढ़िवाद से अधिक काम लेते हैं। नये मार्ग खोजने का हम बहुत कम साहस करते हैं। भेड़िया धसान की प्रवृत्ति के वश हो हम उसी पेशे मे जाना चाहते हैं जिसमें पहले से भीड़ अधिक है। पेशे के चुनाव में हमको काफी छान-बीन करना चाहिए और यथा सम्भव हमको ऐसा पेशा चुनना चाहिए जिसके करने में देश का भी कल्याण हो। —सम्पादक

संघर्ष

"अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुनाजयेत् ।"

"धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा ।"*

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल ।
जो सब का है वही हमारा भी है मंगल ॥
मिला हमें यह चिर सत्य नूतन होकर ।
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर ॥

—सियारामशरण गुप्त

यद्यपि सभी युगों में थोड़ा बहुत संघर्ष रहा है, तथापि इस युग में संघर्ष की मात्रा अधिक है । संघर्ष विश्वव्यापी हो रहा है। कोई ऐसा क्षेत्र नहीं, जो संघर्ष से खाली हो। धर्म का उदय मानव-समाज में ऐहिक और पारलौकिक शाँति के लिए हुआ था, किंतु आजकल धर्म भी अशांति का केन्द्र बन गया है । जो लोग धर्म से उदासीन हैं, वे भी शांत नहीं रहते। वे लोग अपनी उदासीनता को ही एक धर्म बनाकर एक प्रतिद्वंद्वी मत खड़ा कर देते हैं । भारतवर्ष में तो हिंदू-मुस्लिम झगड़े जातीय जीवन पर कुठाराघात कर रहे हैं। विरोधी धर्मवाले तर्क और युक्ति को छोड़कर लाठी-डंडों का सहारा लेते है, एक दूसरे को हानि पहुँचाने ही में धर्म की इति-कर्तव्यता मानते और मिथ्याभिमान के कारण

*'क्रोध को अक्रोध से जीतो और असाधु को साधुता से जीतो ।'
'धर्म से मरना अच्छा है अधर्म से जीतना अच्छा नहीं है ।'

वास्तविक हित का बलिदान करने में गौरव और बुद्धिमत्ता समझते हैं। बहुत-से सामाजिक झगड़े भी धर्म की भित्ति पर खड़े हुए हैं। प्राचीनता नवीनता का विवाद भी धर्म के सहारे ही चल रहा है। एक ओर नवीनता का घोर विरोध किया जाता है, तो दूसरी ओर प्राचीनता को ही देश की अवनति का कारण बतलाया जाता है। प्राचीन लोग यह भूल जाते हैं कि जिसे वे आज प्राचीन कहते हैं, कभी वही नवीन था; और नवीन लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते कि उनकी संतान उन्हे ही प्राचीन और दक़ियानूसी ख्याल का बतलावेंगे।

सामाजिक क्षेत्र में जाति-पाँति और स्त्री-पुरुष-संबंधिनी समस्याएँ मानव-जाति को युद्धस्थली बनाये हुए हैं। वास्तव में लोग वंश-परंपरागत अधिकारों की रक्षा कर रहे हैं। जिसे जो अधिकार प्राप्त है, वह उन्हे सहज में नहीं छोड़ना चाहता।

औद्योगिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में और सब जगहों से भी बुरा हाल है। पूँजीपति लोग समझते हैं कि रुपया ही सबसे बड़ी संचालन-शक्ति है, विना रुपए के सब काम पड़े रहते हैं। उधर मजदूर लोग यह समझते हैं कि वे ही सच्चे उत्पादक हैं। उनके विना धन अनुत्पादक रहता है।

राजनीतिक क्षेत्रों में भी अधिकारों का प्रश्न है। प्राप्त अधिकारो को कोई नहीं छोड़ना चाहता। विजित जातियाँ मनुष्यों के समान अधिकारों की दुहाई देती हुई कहती हैं कि वे बंधनों से कब तक जकड़ी रहें, और विजेतागण अपने को विजित लोगों का हित-रक्षक बताते हुए इन बंधनों को रक्षा के साधन और उन्नति के विधायक सिद्ध करते है। अंतरराष्ट्रीय संघर्ष भी कुछ कम अशाँतिजनक नहीं। निरस्त्रीकरण के वार्तालाप से वायु-मंडल व्याप्त हो रहा है, किंतु युद्ध के नित नए साधन तैयार होते

जाते हैं। मुँह में राम, बग़ल में ईंटें, की बात चरितार्थ होती-सी दिखाई पड़ती है।

आर्थिक उन्नति के लिये धर्म और न्याय की उपेक्षा की जाती है। जो स्वार्थ व्यक्तियों में संघर्ष का कारण है, वही जातियों में खींचातानी उत्पन्न कर रहा है। यद्यपि मनुष्य-जाति ने नख-दंत आदि स्वाभाविक अस्त्रों को त्याग दिया है, तथापि अब उनसे भयानक और तीव्र अस्त्र तैयार कर लिए हैं। जितना ही ज्ञान बढ़ता जाता है, उतनी ही प्रतिद्वंद्विता में वृद्धि हो रही है। व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता भी गोला-बारूद से कम घातक नहीं। मँहगाई भी दिन-प्रति-दिन भीषण रूप धारण करती जाती है। बढ़ती हुई आवश्यकताओं के अनुकूल आय नहीं। असंतोष क्रोध और क्रूरता को बढ़ा रहा है। क्रोध की अग्नि जब प्रज्वलित हो जाती है, तब सहज में नहीं बुझती। वायु-मंडल संकुचित और विषाक्त बनता जा रहा है। साँस लेने से दम घुटता-सा मालूम होता है, फिर आशावाद के लिए क्या स्थान ?

आशावादी जो कुछ हो चुका है, उसकी ओर देखता है, जो कुछ नहीं हुआ, उसे देखकर निराश नहीं होता। इतना ही नहीं, मनुष्य की असफलता उसके उद्योग को जारी रखने में सहायक होती है। मानव-जाति की उपर्युक्त समस्याएँ ऐसी नहीं, जो सावधानी से विचार करने पर हल न हो सकें। यद्यपि मनुष्य में स्वार्थ की मात्रा अधिक है, तथापि अनुभव यह बतलाता है कि सच्चा स्वार्थ निःस्वार्थता में है। संकुचित स्वार्थ स्वार्थ का ही घातक होता है। मनुष्य में जहाँ घृणा के भाव हैं, वहाँ सहानुभूति और सामाजिकता भी है। सत्‌शिक्षा की आवश्यकता है। अभी तक लोग दूसरों को नीचा समझने में अपनी उच्चता मानते हैं; किंतु अब, जैसे ज्ञान का विस्तार होता जाता है, एक

को दूसरे की योग्यता का परिचय मिलता जाता है। संसार के साहित्यिक एक दूसरे के अधिक निकट आते जा रहे हैं। आपके साहित्यिक यद्यपि राजनीतिक क्षेत्र में नहीं हैं, तथापि अपनी रचनाओं द्वारा दूसरी जातियों में आपका मान बढ़ाकर बड़ा राजनीतिक कार्य कर रहे हैं।

मानव-जाति मे वृष्णि-वंशियों की भाँति आपस में कट मरने, की प्रवृत्ति अवश्य है, किंतु उसमें आत्मरक्षा की भावना भी बलवती है। सच्ची आत्मरक्षा दूसरों को दबाकर रखने में नहीं है, क्योंकि दबा हुआ मनुष्य कभी मित्र नहीं बन सकता। मानव-जाति इन सिद्धान्तों को समझती जा रही है। हाँ, इन सिद्धान्तों का प्रचार अभी यथेष्ट रूप से नहीं हुआ है, किंतु यह निराशा की बात नहीं है। विचार-क्षेत्र में सिद्धान्त के प्रकट होने में भविष्य के लिये शुभाशा है। ये सिद्धाँत केवल जातियों के सुधार के अर्थ ही विचार-क्षेत्र में नहीं आए हैं, वरन् व्यक्तियों के सुधार में भी ये काम में लाए जा रहे हैं। दंडविधान बदला लेने के लिये नहीं रक्खा गया है, वरन् अभियोगी के सुधार के लिये। दुष्कर्म करने की प्रवृत्ति अब एक मानसिक रोग समझा जाने लगा है, और उसकी चिकित्सा के साधन ढूँढे जा रहे हैं। जिस प्रकार व्यक्ति के मनोविज्ञान ने व्यक्तिगत रोगों की चिकित्सा में बड़ी सहायता पहुँचाई है, उसी प्रकार जातियों के आदर्शों का अध्ययन वर्गों और संगठित समूहों के दंभ, घृणा आदि रोगों को कम करने में सहायक होगा। राजनीतिक और अंतर-राष्ट्रीय समस्याएँ यद्यपि बहुत जटिल हैं, तथापि दृष्टि-कोण के बदलने से वे सहज में सुलभ हो जायँगी। अभी तक ये समस्याएँ बिलकुल दूकानदारी के सिद्धांतों पर चल रही हैं। व्यापार के भी सिद्धाँत बुरे नहीं, किंतु व्यापार उच्च कोटि का भी होता है, और

नीचे दर्जे का भी। जिस प्रकार व्यक्तियों के व्यापार में सचाई को महत्व दिया जाता है, उसी प्रकार राजनीति में भी सचाई को स्थान पाने की आवश्यकता है। सत्य की सदा जय होती है, किंतु कभी-कभी ज़रा देर लग जाती है। अभी हमको व्यापार-नीति से ऊँचा उठ कर न्याय और धर्म-संबंधिनी उदार नीति की शिक्षा ग्रहण करना है।

धर्म-नीति में दो पक्ष नहीं रहते। एक ही पक्ष को दूसरे का वास्तविक हित देखने का उत्तरदायित्व लेना पड़ता है। दूसरे पक्ष के वास्तविक हित देखने में अपना स्वार्थ त्यागना पड़ता है। इसके लिये शिक्षा की आवश्यकता है। वह शिक्षा हमें स्वयं देनी चाहिए। स्वयं चरित्रवान् बनकर दूसरों को भी शिक्षा दे सकते हैं। साम्य स्थापित करने के लिये परस्पर आदान-प्रदान अपेक्षित हैं। पहले स्वयं दान करना चाहिए, फिर दूसरो से प्रत्युपकार की आशा रखनी चाहिए। निष्काम कर्म किया जाय, तो सबसे अच्छा हो। सज्जनता कभी निष्फल नहीं जाती।

अन्य समस्याएँ भी परस्पर आदान-प्रदान से हल हो सकती हैं। यद्यपि धर्म मे अंध-विश्वास के लिये स्थान नहीं, तथापि धार्मिक भाव के लिये अब भी गुँजाइश है। हम आदर का व्यवहार चाहते है, हम उदारता चाहते हैं, हम अपने जीवन में सरसता चाहते हैं, हम अपने में प्रेम और दया की स्निग्धता और आर्द्रता देखने को उत्सुक है। यही धार्मिक भाव है। यदि हम अपने ईश्वर को व्यापक रूप में देखना चाहते हैं, तो ईश्वर की संतान से विरोध नहीं कर सकते। यदि दूसरे अज्ञानांधकार में हैं, तो हमे चाहिए कि उन्हे ज्ञान का प्रकाश दिखलावें, न कि अपने अज्ञान से उनका अज्ञान द्विगुणित कर दें। प्राचीन-नवीन का भी झगड़ा उदारता की अपेक्षा रखता है।

प्राचीनों को यह ख़याल करना चाहिए कि संसार परिवर्तन-

ील है। समय की गति किसी के रोके नहीं रुकती, किंतु वे लोग
स परिवर्तन को उच्छृंखलता में परिणत होने से रोक सकते हैं।
वीनों को भी इस बात को मानना पड़ेगा कि हमें नवीन इमारत
पुरानी नींव पर ही बनाना है। हमें उन्नति अवश्य करनी है,
परन्तु एक क्रम से। केवल परिवर्तन से कोई अर्थ नहीं सधता,
हमें उन्नति चाहिए। उन्नति में क्रम और विकास रहता है। क्रम
में पूर्वापर संबंध का विच्छेद नहीं होता। हमें चाहिए कि हम
अपना जातीय व्यक्तित्व रखते हुए उन्नति करें।

जाति-पाँति की समस्या में हमें पहले समझ लेना चाहिए कि
कोई जन्म-मात्र का अधिकार स्वीकार करने को तैयार न होगा।
यदि हम दूसरों से आदर चाहते हैं, यदि हम चाहते हैं कि दूसरे
हमे पूजें, तो हमें अपने गुणों से, अपने प्रेम से और सहानुभूति
से दूसरों के हृदय में स्थान प्राप्त करना चाहिए। पतितों को भी
चाहिए कि हम जिनकी समता चाहते हैं, उनकी समता के योग्य
बनें। दोनों ही ओर योग्यता की आवश्यकता है। बिना योग्यता
के अधिकार नहीं मिलता। हाँ, मनुष्य-मात्र के अधिकार सबको
प्राप्त हैं। व्यक्ति चाहे योग्य हो, चाहे अयोग्य, उसे अपनी नैतिक
आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार है।

यह आशावाद अकर्मण्यता नहीं है। असंतोष क्रिया का प्रेरक
अवश्य होता है, किंतु उसके साथ आशा और विश्वास की आव-
श्यकता है। यदि हमें मनुष्य-जाति की उच्च संभावनाओं में
विश्वास नहीं, तो सारी शिक्षा निष्फल हो जाती है। उद्योग भी
हलका पड़ जाता है। जो श्रद्धा और विश्वास धर्म में आवश्यक
हैं, वे कार्य-क्षेत्र में भी अपेक्षित हैं। मनुष्य-जाति की उच्च
संभावनाओं में विश्वास रखते हुए हम अपने कार्य को उत्साह-
पूर्वक कर सकते हैं। संसार संघर्षमय अवश्य है, किंतु हम कम-

से-कम अपने अंश में संघर्ष को कम कर सकते हैं। हमारी सद्-भावनाएँ निष्फल नहीं जायँगी। लगन के आगे कोई प्रतिबंध नहीं ठहरता। हम समाज के जीवित केन्द्र हैं, हम समाज की गति में अंतर ला सकते हैं। हमारे विचार दूसरों को प्रभावित करते हैं। यदि बुरी बातें संक्रामक हैं, तो अच्छी बातें भी संक्रामक हो जगद्व्यापिनी बन सकती हैं। बुरी बातें अछूत रोगों की भाँति फैल जाती हैं अच्छी बातों के प्रचार में समय अवश्य लगता है किन्तु प्रयत्न करने पर जब अच्छी बातें जाति के मन में स्थान पा जाती हैं तब वे चिरस्थायी होती हैं और जाति उन्नति करती है।

आत्म संयम और अनुशासन

'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

× × × ×

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
यस्येन्द्रियाणिवश्यानि सदश्वा इव सारथे॥*

मनुष्य स्वतन्त्रता चाहता है किन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि जो चाहो सो करो। स्वतन्त्रता का अर्थ यही है कि उचित काम के करने में ऊपर से कोई बाधा न हो और कोई दूसरा अपने स्वार्थ के लिए अथवा तुम्हारे स्वार्थ के लिये भी तुम्हारे कार्यों का नियन्त्रण न करे। स्वतन्त्रता और आत्म संयम अन्योन्यान्याश्रित शब्द है जब हम स्वयं अपने को शासित रक्खेंगे तभी हम पर दूसरों के शासन की आवश्यकता नहीं होगी। जो लोग स्वेच्छाचारी होते उनकी निरंकुशता को वश में लाने के लिए दूसरों का शासन आवश्यक हो जाता है। दूसरो

---

*अर्थात् आत्मा को रथ में बैठनेवाला समझो और शरीर को रथ मानो। बुद्धि को सारथी रूप से ग्रहण करो और मन को उसके हाथ की लगाम समझो अर्थात् मन को बुद्धि के वश में करो—जो ज्ञानी पुरुष अपने मन को बुद्धि के संयम में रखता है। उसकी इन्द्रियाँ ऐसी वश में रहती हैं जैसे कि सारथी के वश में अच्छे घोड़े।

का शासन अरुचिकर होता किन्तु आत्मशासन में प्रसन्नता होती है। योग शास्त्र में जो यम नियम बतलाये गये हैं वे आत्मशासन के ही रूप हैं।

आत्म संयम के लिए मनको बुद्धि के वश में करना आवश्यक है। हमारी इन्द्रियाँ मन के वश में हैं जब तक मन क़ाबू में नहीं होगा तब तक इन्द्रियाँ वश में नहीं हो सकती हैं। मन को क़ाबू में रखने का अर्थ मन को मारना नहीं है वरन् उसको औचित्य की सीमा से बाहर न जाने देना है। मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण बनता है। 'मन एव मनुष्याणां बन्ध मोक्ष कारणं।'

मन अधिक बलवान है। इसके जीतने के लिए बुद्धि का सारथित्व तो चाहिए ही किन्तु उसके साथ उसको दूसरे अच्छे आकर्षण भी उपस्थित करने की आवश्यकता है। ईश्वर ने जो हम को वृत्तियाँ दी हैं सब का उपयोग है। उनको उचित दिशा में लगाना ही प्रत्येक मनुष्य का कार्य है। इसके लिये अध्ययन, सत्संग, नियमित जीवन, अपने दोषों का विश्लेषण और उनकी स्वीकृति आवश्यक है।

आत्म-संयम के साथ अपना या अपने बड़ों का अनुशासन मानना भी आवश्यक है। स्वतन्त्र देशों में अनुशासन का पूरा ध्यान रक्खा जाता है। फौज का अनुशासन तो आदर्श माना जाता है। स्कूल और बालकों का अनुशासन यद्यपि आजकल कुछ कम हो गया है उतना ही आवश्यक है जितना कि सेना का। विना अनुशासन के आत्म संयम असम्भव हो जाता है। आत्म संयम का अभ्यास बालक पन से ही आवश्यक है।

समाज मे अनुशासन की बड़ी आवश्यकता है। दूसरां के अनुशासन की अपेक्षा आत्मानुशासन का विशेप महत्व है। जब

सरकार अपनी हो तो अधिकारियों का अनुशासन भी अपना ही अनुशासन होता है। सरकारी अनुशासन भी समाज के हित के लिए ही होता है। उससे जीवन में हमको एक समय असुविधा या देरी लगे किन्तु दूसरी बार सुविधा भी हो जाती है। नियम और व्यवस्था से सामाजिक उन्नति का माप होता है। हम लोग भेड़ बकरियों से कुछ ऊँचे उठे हुए हैं। हमारे जीवन में नियम और व्यवस्था ही हमको अन्य जातियों की दृष्टि में ऊँचा उठाती है। रेल सिनेमा घरों आदि में हम लोग अपनी सभ्यता का परिचय नहीं देते हैं। धक्का-मुक्की खींच-तान हमारे लिए गौरव की वस्तु नहीं। टिकट खरीदने में कभी दम घुटने की नौबत आ जाती है। इस सम्बन्ध में हम श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल की 'कतार बनाइए' शीर्षक लेख का कुछ अंश देते हैं।

अपने कॉलेज-जीवन का स्मरण हो आता है। महीने में एक दिन फ़ीस चुकानी पड़ती थी। दिन और वक़्त बँधा हुआ था। बड़ी भीड़ लग जाती थी। सभी विद्यार्थी जल्द से जल्द फ़ीस देकर पिंड छुड़ाना चाहते थे। क्लर्क की खिड़की के सामने जमघट हो जाता था। एक विद्यार्थी फीस चुका कर हटा कि तीनों ओर से रेला आता था। जिसने फ़ीस दे दी उसे फिर उस भीड़ में से बाहर निकलना भी दुश्वार हो जाता था। बेचारे की टोपी इधर गिरती और हाथ की किताबें उधर। दुबला-पतला हुआ तो हड्डियो को भी पूरी आजमाइश हो जाती थी! कुछ मोटे-ताज़े हट्टे-कट्टे विद्यार्थियों की मौज थी। कभी भी आ जाते और ज़ोर का धक्का देकर, दूसरों को इधर-उधर हटा कर खिड़की के पास पहुँच जाते। पर मेरी तो उस दिन मानो शामत ही आ जाती। वह दिन और वक़्त चूक जाय तो फिर कई दिन तक फ़ीस चुकाने का मौक़ा नहीं मिल सकता था, क्योंकि जुदा-जुदा क्लास के

विद्यार्थियों के दिन मुक़र्रर थे। उस दिन दूसरे किसी भी वर्ग की फीस नहीं ली जाती थी, और फीस न दे पाये तो रोज़ फ़ाइन होता था।

मैं इस कशमकश और मल्ल-युद्ध से घबड़ा जाता था। मैं एक तरफ़ खड़ा रहता और जब भीड़ छट जाती तभी फीस चुकाता। पर बहुत-सा वक़्त ज़ाया होता और काफ़ी परेशानी उठानी पड़ती। खड़ाखड़ा सोचता कि अगर हम विद्यार्थी भी अपनी-अपनी फ़ीस ठीक ढंग से नहीं दे सकते तो फिर मामूली अनपढ़ लोग स्टेशनों पर टिकट खरीदने में धक्का-मुक्की करें, तो उसमें क्या आश्चर्य। सुना था इंगलैंड में क़तार बनाने का रिवाज़ है। एक के पीछे एक खड़े होते जाते हैं। जो सबसे पहले आया, वह सबसे आगे, जो सबसे बाद आया वह सबसे पीछे। एक-दूसरे को कोई धक्का नहीं देता। न क़तार तोड़ कर बीच में कोई आ खड़ा हो सकता है। काश! वैसा इन्तज़ाम हमारे कॉलेज में भी हो जाय। बस यही ख्याल फ़ीस के दिन हर महीने दिमाग़ में आते। पर हर वक़्त वही तजुर्बा और वही परेशानी।

कुछ साल बाद जब ख़ुद इंगलैंड जाने का मौक़ा मिला तो वहाँ का क़तार-रिवाज़ देख कर बड़ी ख़ुशी हुई। अंग्रेज़ी में उसे क्यू-प्रथा (Queue System) कहते हैं। जानने, सीखने और अमल में लाने लायक रिवाज़ है। कहीं भी कई लोगों को एक जगह एक ही काम करना हुआ तो क़तारें लग जाती हैं। जो बाद में आता है वह चुपचाप लाइन के पीछे खड़ा हो जाता है। एक तरफ़ से लोग आकर क्यू के पीछे खड़े होते जाते हैं और दूसरी ओर से जिनका काम पूरा हो जाता है वे निकलते जाते हैं। न जाने वालों को कोई दिक़्क़त, न आने वालों को। न क्लर्क को।

स्टेशन पर जाइये तो टिकिट-घर के सामने क़तार खड़ी मिलेगी। न कोई शोरग़ुल, न धक्का-मुक्की। सभी का काम बड़ी शान्ति से हो जाता है। टिकिट देने वाले क्लार्क भी बड़े चुस्त रहते हैं। एक मशीन पर उँगली रखी कि सामने टिकिट गिर पड़ता है। दूसरी मशीन पर हाथ चलाया कि रेज़गारी सामने आ जाती है। दो-तीन सेकिण्ड में एक-एक को टिकिट मिलता जाता है। किसी को भी ज़्यादा देर इन्तज़ार नहीं करना पड़ता।

बस पर चढ़ना हो तो आपको स्टैंड पर एक क्यू खड़ा मिलेगा। जब मोटर आती है तो एक-एक आदमी उस पर चढ़ता है। सब एक साथ घुसने की कोशिश नहीं करते। अगर मोटर में थोड़े लोगों की जगह खाली हुई तो कतार के आगे के उतने ही चढ़ पायेंगे, और बाक़ी के दूसरी बस की राह देखेंगे। औरत हो, चाहे आदमी—सभी क्यू के नियमों का पालन करते हैं। कोई भी बीच में कतार तोड़ कर नहीं आ सकता और अगर बीच में ही क्यू से चले गये तो दुबारा जगह नहीं मिलेगी फिर तो क्यू की "पूँछ" के आख़िर में ही जाकर खड़ा होना पड़ता है।

यही हाल सिनेमा और थियेटर के टिकिट-घर के सामने कभी-कभी तो सिनेमा-घर के चारों ओर इतना लम्बा क्यू बन जाता है कि उसकी "पूँछ" ढूँढ़ निकालना एक मसला बन जाता है और घंटों खड़े रहने पर भी अगर सिनेमा-घर में कतार की संख्या के लिहाज़ से कम जगह हुई तो पीछे के लोगों को फिर दूसरे 'शो' के लिए खड़ा रहना पड़ता है। स्त्रियाँ भी घंटों खड़ी रहती हैं। कोई किताब पढ़ती रहती हैं, कोई अख़बार। बीच-बीच में भूख लगने पर अपने बैग में से चाकलेट और डबलरोटी के टुकड़े निकाल कर खा लेती हैं। पर अपनी जगह से नहीं हटतीं। अगर हटीं तो जगह गई। जब टिकिट-घर खुलता है तो

क़तार धीरे-धीरे रेंगने लगती है। क्यू में खड़े स्त्री-पुरुषों के मनोरंजन के लिए कुछ भिखारी भी अक्सर आ जाते हैं। कोई गाना गाता है, तो कोई काग़ज़ पर कारटून बना-बना कर लोगों को दिखलाता है। कोई खड़िया से ज़मीन पर ही चित्र बना देता है। कोई अपने कुत्ते के खेल-तमाशे दिखला कर लोगों का दिल बहलाता है।

डाकघर में इसी तरह की क़तारें खड़ी मिलेंगी। एक मनी-आर्डर की खिड़की के सामने, दूसरी तार की खिड़की के सामने, तीसरी रजिस्ट्री के लिये और चौथी स्टाम्प और पोस्ट कार्ड ख़रीदने के लिए। बिलकुल शोर नहीं, कोई झंझट नहीं। सारा काम बड़े आराम और अमन में चलता रहता है।

टेनिस या फ़ुटबॉल की मशहूर मैच देखने के लिये लोगों की जंगी भीड़ लगती है, पर वहाँ भी वही 'क्यू'। टिकिट ख़रीदने के लिये रेजगारी आफ़िस की खिड़की के सामने भी उसी तरह की क़तार लग जाती है।

ग़रज़ कि जीवन के सभी तरह के काम-काज मे इस 'क्यू'-प्रथा का चलन है। कितना अच्छा रिवाज है! उसे देख कर मेरा जी ख़ुश हो गया। अपने कॉलेज-जीवन के वह फ़ीस देने के दृश्य याद आये विना न रहे।

नोट—भारतवर्ष में कलकत्ते बम्बई के टिकिट-घरों में लोग क़तार बनाते हैं। दिल्ली मे भी सिनेमा के टिकिट-घरों तथा कहीं-कहीं बस के अड्डों पर कतार दिखाई देती है।

नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकार

नगर में रहने वाले को नागरिक कहते हैं। नगर में रहने के कारण नागरिक पर कुछ उत्तरदायित्व आ जाता है क्योंकि मनुष्य नगर में रहने के कारण एक जनसमुदाय के सम्बन्ध में आ जाता है। यदि मनुष्य अकेला रहे तो सिवाय पेट भर लेने के उसका कोई कर्त्तव्य न होगा अथवा वह अपना समय ईश-भजन वा प्रकृति के निरीक्षण में व्यतीत करेगा। परन्तु समाज मे रहने के साथ कर्त्तव्य बढ़ जाता है। जिस समाज में मनुष्य उत्पन्न हुआ है, उसकी उन्नति करना उसका परम कर्त्तव्य है।

नागरिक

नागरिकता बड़े शहर में रहने वालों के लिए ही आवश्यक नहीं हैं वरन् प्रत्येक मनुष्य के लिए जो किसी प्रकार के सभ्य समाज में रहता है। नागरिकता एक प्रकार से मानवता और सभ्यता का पर्याय बन जाता है। अच्छे नागरिक को अपने सभी सम्बन्धों में अच्छा मनुष्य बनना होगा क्योंकि मनुष्य के पारिवारिक, व्यापारिक-सामाजिक राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय आदि सम्बन्ध सामाजिक दृढ़ता और संगठन में सहायक होते हैं। इन सब सम्बन्धो के पारस्परिक अविरोध के साथ निर्वाह में ही सच्ची नागरिकता है। लोकतंत्र राष्ट्र की भी सफलता के लिए जनता में नागरिकता के भावो का मान आवश्यक है।

मनुष्य की उत्पत्ति समाज से हुई है। समाज से भरण-पोषण, शिक्षा, आदि प्राप्त कर वह पुष्ट हुआ है। समाज ही में

उसकी आजीविका है। अतः समाज की उन्नति में बाधक होना घोर कृतघ्नता ही नहीं वरन् आत्महत्या है। समाज की उन्नति के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं। जो बातें सामाजिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं उनका साधन करना और उनके सम्पादित होने में योग देना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है।

शरीर-रक्षा को शास्त्रों में पहला धर्म-साधन बतलाया है—"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"; यदि शरीर ही नहीं तो धर्म कहाँ? मनुष्य-शरीर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन माना गया है। यदि वह स्वस्थ नहीं है तो सब साधन विफल हो जाते हैं। इसीलिए कहा गया है कि 'तन्दुरुस्ती हज़ार नियामत'। मनुष्य को स्वयं स्वस्थ रह कर दूसरों के स्वस्थ रहने में सहायक होना चाहिए। यदि हमारे पड़ोसी स्वस्थ नहीं हैं और यदि हमारा जलवायु शुद्ध नहीं, तो हमारे स्वास्थ्य को भी आघात पहुँचता है। हमारे बिगड़ने से समाज बिगड़ता है और समाज के बिगड़ने से हम बिगड़ते हैं। इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया रूप से बिगाड़ का रोग बढ़ता रहता है और मनुष्य की हानि होती है। इसलिए मनुष्य सबसे पहले आप स्वस्थ रहने का उद्योग करे।

सफाई और स्वास्थ्य

स्वस्थ रहने के लिए अपने शरीर, अपने वस्त्र और अपने घर की सफ़ाई अत्यन्त आवश्यक है। अधिकतर रोग सफाई के अभाव से होते हैं। सफाई रखने से केवल शरीर ही स्वस्थ नहीं रहता वरन् मन भी प्रसन्न रहता है, और आत्म-गौरव बढ़ता है। स्वयं अपने को स्वच्छ कर अपने मुहल्ले तथा सारे नगर को स्वच्छ और आलोकित रखने में सहायक होना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। मतदाता गण म्युनिसिपैलिटी के मेंबरों पर जोर डाल कर इस कार्य में सहायक हो सकते हैं। चुनाव के समय वे लोग

व्यक्तिगत सम्बन्ध, आकर्षणों और प्रलोभनों को छोड़कर सच्चे कार्यकर्त्ताओं को ही अपना मत (Vote) दें। अस्पतालों के सुचारु-रूप से चलाने और गरीबों को यथावत् दवाई पहुँचाने में सहायक होना भी परम वाञ्छनीय है।

शिक्षा

शिक्षा के लिए जितना लिखा जावे उतना ही थोड़ा है। शिक्षा से मनुष्य मनुष्य बनता है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह इस बात को देखे कि उसके बालकों, और नगर वा मुहल्ले के अन्य बालक-बालिकाओं को ठीक-ठीक शिक्षा होती है या नहीं, यदि नहीं होती तो किस कारण? यदि पाठशालाओं में सुधार की आवश्यकता हो तो उस सुधार के लिए यत्न करे और यदि लोगों की शिक्षा में अरुचि हो तो उनको शिक्षा के लाभ बतलाने और उनके बालकों के लिए शिक्षा सुलभ करवाने का प्रयत्न करे। शिक्षा का कार्य स्कूल और कॉलेज की शिक्षा में ही समाप्त नहीं हो जाता वरन् वह जीवन भर चलता है। जनता को नागरिकता की शिक्षा देना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। हाँ, यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार की शिक्षा देने में किसी प्रकार का दम्भ न आने पावे। शिक्षा सेवाभाव से दी जाय।

सामाजिक संगठन और धार्मिक उदारता

सामाजिक उन्नति सहकारिता और संगठन पर निर्भर है। प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि वह स्वयं अपने सद्व्यवहार से लोगों में प्रेम का व्यवहार बढ़ावे, और दूसरों से घृणा-भाव को कम करे। लोग वर्णाश्रम-धर्म का पालन करें, किन्तु उनका धर्म दूसरों को अपमानित न करे, कोई अपमानित होकर समाज में नहीं रहना चाहता। धर्म को सेवा का साधन, उसके द्वारा परस्पर प्रीति-भाव और भ्रातृ-भाव बढ़ाना ही सच्ची धार्मिकता है। नागरिक को चाहिए कि वह सांप्रदायिकता और मत-

भेद से उठने वाले झगड़ों को कम कर समाज को अंग-भंग होने से बचावे। स्वयं दूसरों के मत का आदर कर लोगों में उदारता के भावों की उत्पत्ति करे। परस्पर उदारता और आदान-प्रदान से ही सामाजिक संगठन पुष्ट होता है।

आर्थिक उन्नति

जिस प्रकार व्यक्ति का धन-हीन जीवन निरर्थक है वैसे ही समाज का भी। जो नागरिक सम्यक आजीविका द्वारा धनोपार्जन नहीं करता वह समाज का घातक है। नागरिक को चाहिए कि स्वयं बेकार न हो और दूसरों को बेकारी से बचावे। जो बेकार हों उनके लिए बेकारी दूर करने के साधन उपस्थित करे। नगर में उद्योग-धंधों की वृद्धि में सहायता दे। जो लोग विद्या या अनुभव के अभाव से अपना व्यवसाय या व्यापार नहीं बढ़ा सकते उनको अपनी विद्या और अनुभव से सहायता करे।

रक्षा और शांति

यद्यपि रक्षा और शान्ति पुलिस और मैजिस्ट्रेटों का कार्य है, तथापि उसमें नागरिकों का सहयोग आवश्यक है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह वास्तविक अपराधियों का पता लगाने में सहायता दे और इसी प्रकार बेगुनाहों को पुलिस के अत्याचार से बचाने का उद्योग करे। न्याय में व्यक्तिगत सम्बन्धों और प्रलोभनों को स्थान देना उचित नहीं। नागरिक को चाहिए कि वह देश की रक्षा के लिए फौजी स्वयं-सेवकों अथवा सेवा-समितियों में काम करे क्योंकि नगर की रक्षा देश की रक्षा पर आश्रित है। अच्छा नागरिक जो कुछ काम करे—चाहे मेंबरी हो, चाहे आनरेरी मैजिस्ट्रेटी हो और चाहे कलक्टरी हो—सब सेवा भाव से करे, केवल आत्म-गौरव बढ़ाने के लिए नहीं। नागरिक को चाहिए कि वह समाज को केवल चोर-डाकुओं से ही रक्षित न रक्खे, वरन् उन लोगों से भी रक्षित रक्खे जो सभ्यता के आवरण में लोगों को ठगते हैं। उसको यह

भी चाहिए कि आपस के लड़ाई-झगड़े के कारणों को उपस्थित न होने दे। यदि नगर में शान्ति-भंग होती है तो दुर्जन तो आपस में लड़ते हैं और सज्जनों की हानि होती है। जो व्यक्ति लड़ाई के कारण उपस्थित होते हुए देखकर उपेक्षाभाव से मौन रहता है, वह उस लड़ाई में सहायक होता है। हाँ, विरोध के शमन के लिए भी यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके लिए ऐसे उपाय काम में न लाये जावें, जिनसे विरोध बढ़े, वरन् शान्ति और प्रेम के साथ, शान्ति स्थापित की जाय।

राजनीतिक उन्नति

राजनीति के सम्बन्ध में बड़ी सावधानी और धैर्य की आवश्यकता है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह नेता बने। जहाँ बहुत से नेता होते हैं वहाँ विनाश के साधन उपस्थित हो जाते हैं। धैर्य, दृढ़ता और निश्चय के साथ किया हुआ कार्य सफल होता है। सत्य का अवलंब लेकर निर्भयता से कार्य करना चाहिए। जहाँ पर मताधिकार का प्रश्न हो, जहाँ उसकी राय ली जावे, वह स्वतंत्रता-पूर्वक दे, उसमें किसी का पक्षपात न करे। धन और मान के प्रलोभनों से विचलित न हो और न बन्धुत्व, जाति और सांप्रदायिकता का ख़याल करे। मताधिकार का सदुपयोग ही लोकतंत्र राज्य की सफलता का मूल साधन है। राजनीतिक उन्नति के लिए वह इस बात का ध्यान रक्खे कि वही राजनीतिक व्यवस्था उत्तम है जिससे समाज में शान्ति और साम्य स्थापित रहे; सब को समान अधिकार रहें; कोई अपनी जाति वा मत के कारण समाज के किसी लाभ से वंचित न रहे; सबको अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के विकास और उनके उपयोग से न्यायानुकूल लाभ उठाने के लिए समान अवसर मिलें; उचित कार्य करने में किसी की स्वतंत्रता में बाधा न आवे; सबका—चाहे, वह पदाधिकारी हो और चाहे साधारण पुरुष—मान और गौरव रहे;

लोग भूखे न मरें, किसानों का भार हलका हो; बेकारों की बेकारी कम हो; संपत्ति की रक्षा हो, धर्म के शान्ति-पूर्वक आचरण में बाधा न पड़े; देशवासी देश की उन्नति के साधनों का स्वयं निर्णय कर सकें; और देश के सुचारु रूप से शासन का और उसकी रक्षा का स्वयं अपने ऊपर भार लेने की योग्यता प्राप्त कर सकें। जिस प्रकार देश मे उपर्युक्त रीति की व्यवस्था स्थापित होने की दृढ़तापूर्वक मांग करना और उस मांग की पूर्ति मे सहायक होना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है उसी प्रकार राज-व्यवस्था का मान करना, करों का देना और न्याय पूर्ण शासन मे राष्ट्र का सहायक बनना भी नागरिक धर्म के अन्तर्गत समझना चाहिए।

अधिकार

नागरिक अपने कर्तव्य का पूर्णतया पालन करता हुआ अपने शरीर, सम्पत्ति और वैयक्तिक, पारिवारिक एवं जातीय स्वाभिमान की रक्षा, गमनागमन विचार और भाषण की स्वतन्त्रता, व्यापारिक सुविधाओं अस्पताल, पुस्तकालय आदि सार्वजनिक संस्थाओं और नौकरियों मे समानता का व्यवहार व राजकीय न्याय विधान में अभेद, बच्चों की शिक्षा आदि नागरिक अधिकारो के लिए झगड़ सकता है अपने अधिकारों के लिए उदासीन रहना अपने प्रति अन्याय है। जो अपने को प्राप्य अधिकारों से वञ्चित रखता है वह अन्याय को प्रोत्साहन देता है और दूसरो के लिए बुरा उदाहरण उपस्थित करता है अधिकारो के लिए जब झगड़ना हो तब वैयक्तिक लाभ की भावना से नहीं वरन् सामाजिक लाभ को अपने सामने रखना चाहिए। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दूसरों से मनुष्योचित व्यवहार करते हुए समाज को उन्नतिशील बनाने में सहायता देना नागरिक का कर्तव्य है और अपने साथ मनुष्योचित व्यवहार की माँग उसका अधिकार है।

भारतीय संस्कृति के आधार-स्तम्भ

जिस प्रकार व्यक्ति के संस्कार होते हैं उसी प्रकार जाति के भी संस्कार होते हैं। ये संस्कार जाति के रहन-सहन तथा विचार की परम्परागत पद्धतियों के कारण बन जाते और जाति के प्रत्येक व्यक्ति इनको पैतृक सम्पत्ति के रूप में थोड़ी-बहुत मात्रा में प्राप्त होते हैं। दूसरे देश के प्रभाव या संस्कार के प्राबल्य के कारण ये दब भी जाते हैं। इन्हीं विचार और रहन-सहन के संस्कारों के समूह को संस्कृति कहते हैं। ये संस्कार व्यक्ति के घरेलू जीवन और सामाजिक जीवन सभी मे व्यक्ति के साथ रहते हैं। अकेला रह कर भी वह इन संस्कारों से छुटकारा नहीं पा सकता है। संस्कृति का सामाजिक रूप ही शिष्टाचार है। सभ्यता संस्कृति का कुछ स्थूल दृश्यमान रूप है जो बाहरी संस्थाओं और कार्यों में प्रकट होता है।

संस्कृति का आन्तरिक पत्त भी है और वाह्य भी। वाह्य पत्त प्राय: आन्तरिक पत्त की ही अभिव्यक्ति रूप होता है।

अँग्रेजी सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आने से हम लोग अपनी संस्कृति को भूलते जाते हैं और रहन-सहन और चाल-ढाल में विदेशी बनते जाते हैं। यह देश की स्वतन्त्र स्थिति के विरुद्ध है। हमको दूसरों से अविरोध अवश्य रखना चाहिए किन्तु अविरोध के कारण ,जो अपना है उसका परित्याग नहीं करना चाहिए। हमारी संस्कृति मे ही हमारा जातीय व्यक्तित्व है। हम अपना जातीय व्यक्तित्व नहीं खोना चाहते हैं। इसके

खाने से हमारा ही नुक़सान नहीं है वरन् संसार का भी नुक़सान है। संसार की सम्पन्नता विविधता जहाँ तक है यह विविधता दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होती है रक्षणीय है।

हमारी भाषा और हमारा रहन-सहन सब हमारी संस्कृति के ही अंग हैं। हमारी भाषा के बहुत से शब्द हमारी संस्कृति के परिचायक है। कुशल शब्द कुशलाने की शक्ति। वह शब्द तुरन्त हमको उस समय की ओर आकृष्ट कर लेता है जब कि ब्राह्मण लोग नित्य अपनी पूजा उपासना के लिए जंगल से कुश लाया करते थे। प्रवीण का शब्द वीणा से बना है जो वीणा बजाने में कौशल रखता था वह प्रवीण कहलाता था। गवेषणा, गोष्ठी, गोमुखी, गवाक्ष आदि शब्द हमारी समाज में गौ की प्रधानता के द्योतक हैं। हृदय शीतल करना भारतीय वातावरण के अनुकूल प्रयोग है। Warm reception ठंडे मुल्क की आवश्यकताओं के अनुरूप मुहावरा है। अँग्रेजी का मुहावरा 'Killing two birds with a stone' वहाँ की हिंसा-प्रधान मनोवृत्ति का परिचायक है। हमारे यहाँ इसके लिए 'एक पंथ दो काज' मुहावरा है।

रहन-सहन और पोशाक भी हमारी जातीय परिस्थिति और भावनाओं से सम्बन्ध रखती है। जमीन पर बैठना, हाथ से खाना, लम्बे कपड़े पहनना ये सब यहाँ की आवश्यकताओं और आदर्शों के अनुकूल है। गरम देश में पृथ्वी का स्पर्श बुरा नहीं लगता। हाथ से खाना इसलिए है कि यहाँ हर समय हाथ धोये जा सकते है और इसमें भोजन के साथ सीधा सम्पर्क रहता है। इस देश में शरीर को महत्त्व कम दिया जाता है इसलिए वस्त्र का कार्य शरीर को उभार में लाना नहीं वरन् उसको आच्छादित करना है। लम्बी पोशाक आत्मा के विस्तार की भी द्योतक है।

पूर्वी देशों में लम्बी पोशाक को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यूरोप के धार्मिक लोग भी लम्बी पोशाक पहनते हैं। हमारे यहाँ नंगे सर की अपेक्षा सर ढके रखना अधिक सांस्कृतिक समझा जाता है। बाँये हाथ की अपेक्षा सीधे हाथ को अधिक महत्त्व दिया जाता है। भारतीयों का दावतों में दोने-पत्तलों के प्रति-मोह उनके प्रकृति-प्रेम का परिचायक है।

इसी प्रकार देशी रुचि के अनुकूल फूल, फल, वृक्ष मांगल्य वस्तुएँ आदि हैं। फूलों में हमारे यहाँ कमल को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है; कमल ही सब प्रकार के शारीरिक सौन्दर्य का उपमान बनता है। चरण कमल, कर कमल, नेत्र कमल, मुख कमल आदि कमल की महत्ता के साक्षी हैं। कमल का महत्त्व शायद इसलिए है कि उसका जल और सूर्य दोनों से सम्बन्ध है। भारत में कृषि के लिए जल और सूर्य दोनों ही आवश्यक हैं। आम्र, कदली, दूर्वादल का मांगल्य वस्तुओं में अधिक मान है। आम्र यहाँ की ख़ास मेवा है। इसका वसन्त से और कोयल से सम्बन्ध है।

भारतीय संस्कृति की कुछ विशेष बातें जिनकी हमारे साहित्य में भी झलक दिखाई पड़ती है नीचे दी जाती हैं।

(१) आध्यात्मिकता—आत्मा की अमरता मे विश्वास, आवागमन को भावना, भाग्यवाद से प्रभावित पुरुषार्थवाद, भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक को महत्व देना आदि बातें इसके अंग हैं।

(२) समन्वय बुद्धि—धर्म, अर्थ, काम को अविरोध भाव से महत्व देना, ज्ञान भक्ति की एकता, ज्ञान, इच्छा क्रिया का मेल, आदि इसके ही रूप हैं।

(३) अहिंसा—यद्यपि युद्धादि के वर्णनों में हिंसा का प्रचुर वर्णन है तथापि महत्त्व अहिंसा, त्याग, क्षमा, दया आदि सात्विक गुणों को ही दिया गया है।

(४) आनन्दवाद—दुख को बौद्ध धर्म में अधिक महत्त्व मिला है किन्तु दुख से निवृत्ति और स्थायी आनन्द की प्राप्ति हमारे यहाँ का मूल ध्येय रहा है। वर्तमान युग में कुछ परिस्थितियों के कारण और कुछ पाश्चात्य प्रभाव और बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान से हमारे साहित्य में दुखवाद का प्राधान्य हो गया है। वर्तमान कविता में दुखवाद को अधिक आश्रय अवश्य दिया जा रहा है किंतु उस में भी आनन्द की झलक देखी जाती है।

(५) प्रकृतिप्रेम—भारतीय आध्यात्मिकता प्रकृति की विरोधनी नहीं है वरन् भारतीय विचार धारा में प्रकृति आध्यात्मिकता की पोषिका के रूप में स्वीकृत हुई है। हमारे यहाँ दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य रहा है।

आध्यात्मिकता—हमारी जातीय मनोवृत्ति का परिचय हमको वाल्मीकीय रामायण, रघुवंश महाकाव्य, शकुन्तला, उत्तर रामचरित नाटकों आदि प्रायः सभी प्राचीन साहित्य में प्रचुर रूप से मिलता है और वर्तमान काल का भी साहित्य उनसे बहुत अंश में प्रभावित है। वाल्मीकीय रामायण के आदि में जो आदर्श पुरुष के लक्षण हैं वे भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल हैं। रघुवंश में जो सूर्यवंशी राजाओं के गुणों का उल्लेख हुआ है उनमें भारतीय आदर्शों की पूरी झलक पाई जाती है, देखिए—

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।

अर्थात् दूसरों को दान देने के लिए ही जो पन्न बनते थे और सत्य के लिए ही जो थोड़ा बोलते थे (मिथ्याभिमान के कारण नहीं), केवल यश के लिए ही विजय करते थे (धन और राज्य छीनने के लिए नहीं) सन्तानोत्पत्ति कर पितृ-ऋण चुकाने के लिए ही (कामोपभोग के लिए नहीं) जो गृहस्थ बनते थे, जो शैशव-काल में विद्याध्ययन करते थे और यौवन में विषयों की इच्छा करते थे, वृद्धावस्था में मुनियों की वृत्ति धारण कर लेते थे और जो योग द्वारा स्वेच्छा से शरीर छोड़ते थे (आज-कल की भाँति रोगेणान्ते तनुत्यजाम नहीं थे)। ऐसे रघुवंशियों के कुल का मैं (कालिदास) वर्णन करता हूँ, यद्यपि मेरे पास उसके योग्य वाणी का वैभव नहीं है। इस अवतरण में भारत की जातीय मनोवृत्ति का बड़ा सुन्दर चित्र है।

नश्वर शरीर के तिरस्कार की भावना रघुवंश आदि काव्यों मे प्रचुरता से मिलती हैं। गुरु की प्रसन्नता के लिये नन्दिनी गौ की शेर से रक्षा के हेतु महाराज दिलीप कहते हैं कि यदि तुममें मेरे लिए कुछ अहिंसा की मनोवृत्ति है तो मेरे यश शरीर पर दया करो नाश होने वाले पञ्चभूतों के बने हुए पिण्ड मे मुझ जैसे लोगों की आस्था नहीं होती।

किमप्यहिंस्यतव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधाना पिण्डेष्वनास्था खलभौतिकेषु ॥

कबीर, दादू, सूर, तुलसी तो सन्त और भक्त ही थे, उनमें वैराग्य हो तो कोई आश्चर्य नहीं, परम शृङ्गारिक कवि बिहारी में

भी संसार के प्रति मोह नहीं था, वे भी उसमें एक परमात्मा के रूप को प्रतिविम्बित देखते हैं।

आवागमन की भावना हमको रघुवंश, कादम्बरी, नैषध आदि अनेको साहित्य ग्रन्थो में ओत-प्रोत मिलती है। शकुन्तला-दुष्यन्त जैसे पारस्परिक आकर्षण का आधार भी जन्मान्तर सम्बन्ध ही माना गया है। पातिव्रत को भावना (उसके लिए आज-कल के लोग चाहे जो कुछ कहें) हमारे साहित्य में प्रचुरता से पाई जाती है। सीताजी निर्वासित होने पर भी रामचन्द्र को दोषी नहीं ठहरातीं। वे अपने भाग्य को ही उसके लिए उत्तरदायी ठहराती हैं—

'ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः'

और यही संकल्प करती हैं कि प्रसूति कार्य से निवृत्त होकर वे सूर्य की ओर दृष्टि लगा कर उनसे यही प्रार्थना करेंगी कि जन्मान्तर में भी राम ही पति-रूप से प्राप्त हों और उनके साथ तब भी सम्बन्ध-विच्छेद न हो।

भूयो यथा ये जनमान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न मे विप्रयोगः

पूर्वी देशों में अलङ्कार-प्रियता कुछ अधिक है जिस प्रकार भारतीय नारियाँ आभूषणों को हमेशा पसन्द करती आई हैं वैसे ही कविगण कविता को भी अलङ्कारों से सजाते रहे हैं। इसीलिए जितने भाषा के अलङ्कार पूर्वी साहित्य में मिलते हैं उतने पश्चिमी साहित्य मे नहीं। यह प्रवृत्ति बहुत सराहनीय नहीं है।

समन्वय बुद्धि का परिचय हमको प्राचीन साहित्य में प्रचुरता के साथ मिलता है। साकेत के राम पृथ्वी को स्वर्ग बनाने आये थे। वे तोड़ने नहीं, जोड़ने आये थे। प्रसादजी की कामायनी का समरसता और समन्वयवाद में ही अन्त होता है श्रद्धा मनु को

पर्वतराज कैलाश पर ले जाकर वहाँ ज्ञान, इच्छा और क्रिया को पहले पृथक रूप से दिखाती है फिर उसकी मुसकराहट से वे तीनो चक्र मिलकर एक हो जाते हैं। उसी में प्रसादजी ने शिव के दर्शन किये हैं। देखिये:—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।
महा ज्योति रेखा-सी बन कर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिन में।
स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे।

समन्वयवाद और आनन्दवाद दोनों ही एक आध्यात्मिकता के प्रतिफलन हैं। आत्मा सदा विस्तारोन्मुखी होती है। वह सदा अनेकता में एकता और एकता में अनेकता चाहती है। यही समन्वयवाद है और यही आनन्दवाद का मूल है 'भूमा वै सुखम्' पूर्णता में सुख है। काव्य की आत्मा रस भी हमको उसी भूमा या पूर्णता को ओर ही ले जाता है। जो आत्मा विस्तार चाहती है वह हिंसा को भी आश्रय नहीं दे सकती।

अहिंसावाद को हमारे प्रत्येक कार्य में स्थान मिलता है। हमारे साहित्य मे दुखान्त नाटकों का अभाव है। रंगमंच पर मरण नहीं दिखाया जाता। नाग पंचमी का साँपों को भी दूध

पिलाया जाता है ये सब बातें अहिंसात्मक मनोवृत्ति की ही परिचायक हैं।

भारतवर्ष पर प्रकृति की विशेष कृपा रही है। यहाँ पर ऋतुएँ समय-समय पर आती हैं और अपने अनुकूल फल-फूल का सृजन करती हैं। धूप और वर्षा के समान अधिकार के कारण यह भूमि शस्यश्यामला हो जाती है। यहाँ की नदियाँ इस देश की पावनता को और भी बढ़ाती हैं। वे सदा कवियो के उल्लास का विषय रही हैं। सूर्योदय और सूर्यास्त अपनी स्वर्णिम आभा से आकाश-रञ्जित कर देते हैं। 'प्रथम प्रभात उदय तब गगने प्रथम साम रव तब तपोवने।' यहाँ के पशु-पक्षी, लता-गुल्म और वृक्ष तपोवनों के जीवन का एक अंग बन गये थे, तभी तो शकुन्तला के पतिगृह जाते समय महर्षि कण्व वृक्षों से भी उसके जाने की आज्ञा चाहते हैं।

पातुं न व प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रिय मण्डनापि भवता स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुम प्रसूतिसमये यस्याःभवत्युत्सवः
सेयं यासि शकुन्तला पतिगृह सर्वैरनुज्ञायताम्॥

पीछे पीवति नीर जो पहले तुमको प्याय।
फूलपात तोरति नहीं गहने हू के चाय॥
जब तुम फूलन के दिवस आवत है सुखदान
फूली अङ्ग समाति नहिं उत्सव करत महान॥
सो यह जाति शकुन्तला आज प्रिया के गेह।
आज्ञा देहु पयान की तुम सब सहित सनेह॥

यद्यपि पीछे के कवियों का प्रकृति-वर्णन परम्परा पालन मात्र रह गया था फिर भी हमारे यहाँ विना प्रकृति-वर्णन के कविकर्म पूरा नहीं होता है।

देश-प्रेम और देश-सेवा

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'

मातृभूमिः पितृभूमिः कर्मभूमिः सुजन्मनाम् ।
भक्तिमर्हति देशोऽयं सेव्यः प्राणधनैरपि ॥

—महामना मालवीय

जननी, जनक, भ्रात, भगिनी रहती जहाँ,
पुण्य भूमि उसके समान जग में कहाँ ?
अमृत तुल्य निज घर का दल-फल नीर है,
महलों से बढ़कर निज शांति कुटीर है ।
भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गङ्गाजल जहाँ ।
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

स्वदेशानुराग मनुष्य में स्वाभाविक है। प्रत्येक आदमी को अपने निवास-स्थान से प्रेम होता है। घोड़ा अपना थान पहचानता है। सर्प को भी अपने बिल से मोह होता है। चिड़ियाँ दिन भर गगन-मण्डल का चक्कर लगा कर शाम को अपने नीड़ को ही लौटती हैं। हम लोग अपने देश के चहचहाते पशु-पक्षियों के समान ही हैं—

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा,
हम बुलबुलें हैं उसकी वह आशियाँ हमारा ।

देश का हमारे ऊपर भारी ऋण है। हम उसकी जलवायु से पले हैं। उसकी धूल में लोट कर ही हम इतने बड़े हुए हैं। उससे उत्पन्न हुए अन्न से हमारा भरण-पोषण हुआ है। जिस धरती माता ने हमको जन्म लेते ही अपने अंक में लिया था, जिन सड़कों पर हम चलते-फिरते और दौड़ते हैं, जिस भूमि पर हम अपने विलास-भवनों का निर्माण करते हैं, वे सब हमारे इसी भूखण्ड के ही, जिसको हम अपना देश कहते हैं, अङ्ग हैं। देश की संस्थाओं से ही हमने विद्यालाभ किया और देश ही हमारी आजीविका के साधन उपस्थित करता है। देश की सरकार द्वारा जो संरक्षण मिलता है उसीके बल-भरोसे पर हम अपना व्यापार और व्यवसाय चलाते हैं। हम देश के उपकार से कदापि उऋण नहीं हो सकते हैं।

देश प्रेम स्वाभाविक भी है और हमारे प्रेम पर उसका अधिकार भी है। जिस प्रकार हम अपने माता-पिता के उपकारो का बदला नहीं चुका सकते उसी प्रकार देश के उपकारो से हम उऋण नहीं हो सकते हैं। देश-प्रेम का अर्थ है देश की संस्थाओं से प्रेम, देश की रीति-रिवाज और उसमे उत्पन्न वस्तुओं, भाषा, भेष, भूमि आदि से प्रेम और उनके प्रति अपनपत्व और गर्व की भावना का अनुभव करना। सच्चे देश प्रेमी के लिए अपने देश की रज का कण-कण पवित्र होता है। उसकी भाषा का माधुर्य उसके लिए पीयूष के समान होता है और वहाँ की रहन-सहन भेष-भूषा, फल-फूल लतागुल्म और वृक्ष सभी उसके लिए आकर्षण रखते हैं।

जहाँ देश के प्रति हमारा प्रेम है वहाँ उसके प्रति हमारा कर्तव्य भी है। प्रेम की सार्थकता भावना मात्र में नहीं है वरन् उसके अनुकूल क्रिया भी चाहिए। देश-प्रेम देश-सेवा के बिना

एक विडम्बना मात्र है। वह प्रेम क्या जिसमें स्वार्थों का बलिदान न हो ?

अपनी भाषा, अपनी रहन-सहन, रीति-रिवाज और संस्थाओं से प्रेम और उनके पोषण और रक्षा के अतिरिक्त उसकी आर्थिक, मानसिक, नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक आध्यात्मिक उन्नति में योग देना प्रत्येक देश प्रेमी का कर्तव्य है।

व्यक्ति देश और समाज की अन्तिम और अविभाज्य इकाई है। देश का उत्थान और पतन व्यक्तियों के उत्थान और पतन पर निर्भर है। देशोन्नति का सबसे पहला रूप है आत्मोन्नति। यदि हम उन्नत बनते हैं तो हमारे देश का मस्तक उन्नत होता है और यदि हमारा पतन होता है तो देश का सर भी लज्जा से झुक जाता है। प्रत्येक व्यक्ति की अच्छाई या बुराई का उत्तरदायित्व उसके ही प्रति नहीं है वरन् देश के प्रति भी है।

देशभक्त का सबसे पहला कर्तव्य यह है कि वह कोई काम ऐसा न करे जिससे बुरा उदाहरण उपस्थित हो और उसके लिए देश या जाति की बदनामी हो। हमारा कर्तव्य है कि हम अपने को हृष्ट-पुष्ट और बलवान बनाकर देश की सेवा के योग्य प्रमाणित करें—अपने स्वास्थ्य और अपनी पुष्टि को देश के एक सेवक की पुष्टि समझें। किन्तु वह पुष्टि अपने लिए सुखमय जीवन व्यतीत करने में सीमित न रहे, वह पुष्टि और बल देश की सेवा के लिए हो।

आर्थिक उन्नति में हम केवल इतना ही योग दे सकते हैं कि हम जो व्यवसाय चुनें वह ऐसा हो जिससे कि देश के व्यवसाय में उन्नति हो। देश में कल-कारख़ाने खुलवाना, ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन देना, देश में औद्योगिक अनुसन्धान के लिए सुविधाएँ

उपस्थित करना प्रदर्शनियाँ कराना ये सब आर्थिक सुधार सम्बन्धी कार्यक्रम के अंग हैं। यदि हम यह न भी कर सकें तो स्वदेशी का व्रत धारण कर देश की आर्थिक उन्नति में बहुत कुछ योग दे सकते हैं। देश की बनी हुई वस्तुओं का ही व्यवहार करने से देश के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिलता है। देश की बनी हुई वस्तु का मूल्य कुछ अधिक भी हो तो भी वह विदेश की वस्तु की अपेक्षा अधिक ग्राह्य होना चाहिए।

देश की नैतिक उन्नति के लिए हम अपने व्यवहार मे ईमानदारी और सचाई का आदर्श उपस्थित करें। हमको अपने वायदे के पक्के और अपनी जबान के सच्चे बनना चाहिए जिससे कि कोई हमारे ऊपर अंगुली न उठा सके। जिस माल का भाव करें वही माल दें। ऐसी बातों से देश की साख बढ़ती है। हम अपने वैयक्तिक लाभ की ओर ध्यान न देकर देश की साख का विचार करें। हमको चाहिए कि अपने को लोभ और लालच से बचायें विशेषकर उन कामों में जहाँ कि देश के हित का सीधा सम्बन्ध हो। बहुत से लोग अपने वैयक्तिक लाभ के लिए देश के अहित की परवाह नहीं करते हैं। इस सम्बन्ध में मोडर्न रिव्यू के सम्पादक श्री रामानन्द चटर्जी ने बड़ा ऊँचा आदर्श उपस्थित किया था। वे पहले महायुद्ध के बाद लीग ऑफ़ नेशन्स के अधिवेशन मे गये थे; वहाँ उनको आठ सहस्र रुपये मार्ग व्यय के रूप में भेट किये गये किन्तु उन्होंने केवल इसीलिए नहीं स्वीकार किये कि उनके स्वीकार कर लेने पर वे उसके सम्बन्ध में स्वतन्त्र और निर्भीक आलोचना न कर सकेंगे। ऐसी बातों से देश का नैतिक मान बढ़ता है।

देश की सामाजिक विषमताओं को दूर करना अर्थात् अछूतों मजदूरों आदि की स्थिति को सुधारना, दहेज, वृद्ध-विवाह आदि

समाज की कुप्रथाओं का सुधार, निरक्षरता का निवारण, स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारी का प्रसार, मकानों और मुहल्लों की गन्दगी और संकीर्णता को दूर कराना, नये और स्वस्थ निवास-स्थानों का निर्माण, रोगी सेवा औषधि आदि का प्रबन्ध करना या कराना, लोगों के मनोरञ्जन और विश्राम के लिए पार्क, व्यायामशाला, क्लब आदि खुलवाना ये सब समाज सेवा के ही अङ्ग हैं। समाज की सेवा देश की सेवा है। देश भक्ति का अर्थ केवल नारे लगाना या व्याख्यान देना ही नहीं है वरन् रचनात्मक कार्य करना है।

जनता के मानसिक धरातल को ऊँचा करने के लिए निरक्षरता निवारण के साधनों में योग देना, तथा वाचनालय और पुस्तकालय, पाठशालाओं और कॉलेजों को खुलवाने में सहायक बनना देश-सेवा के ही रूप हैं। ज्ञान-प्रसार के लिए वैज्ञानिक, राजनीतिक और आर्थिक व्याख्यान कराना तथा देश के वैज्ञानिक ऐतिहासिक और साहित्यिक खोज को प्रोत्साहन देना ये सब देश-सेवा के ही क्षेत्र हैं।

राजनीतिक उन्नति के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है जनता में राजनीतिक ज्ञान का प्रसार करना और उसमें राष्ट्रीयता की चेतना उत्पन्न करना। इस चेतना के उत्पन्न करने में सबसे अधिक बाधक है साम्प्रदायिकता। साम्प्रदायिकता एक प्रकार का धार्मिक अहंभाव है। जहाँ धर्म अहंभाव को दूर करना सिखाता है वहाँ साम्प्रदायिकता उसको पुष्ट करती है। धर्म हृदय का विषय है। हम किसी का जबरदस्ती हृदय-परिवर्तन नहीं कर सकते हैं।

परमात्मा एक ही है उसके विद्वानों ने अनेक रूप बना लिए हैं। 'एकंसत् विप्राः बहुधा वदन्ति' परमात्मा अनन्त है, हम सब

अंधे के हाथी की भाँति उसके एक ही अंग को पूर्ण समझ कर लड़ने लगते हैं। अपने धर्म में दृढ़ रहकर दूसरे धर्म का आदर करना प्रत्येक देश के हितचिन्तक का कार्य है। पूज्य महामना मालवीय ने अपने धर्मोपदेश में लिखा है।

विश्वासे दृढता स्वीये परनिन्दा विवर्जनम्।
तितिक्षा मतभेदेषु प्राणिमात्रेषु मित्रता॥

अर्थात् अपने विश्वास में दृढ़ता और पराई निन्दा से दूर रहना, मतभेदों को छोड़ देना। (अर्थात् सामान्य बातों को ग्रहण करना और प्राणिमात्र से मित्रता रखना चाहिए) उसी बात को मालवीयजी ने हिन्दी में कहा है—'दृढ़ता अपने धर्म में सारे जग सों प्रेम' कोई धर्म ईश्वर की सृष्टि का हनन नहीं सिखलाता ईश्वर से प्रेम करना और ईश्वर के बन्दो से द्वेष करना धर्म नहीं। जहाँ रीति रिवाज उपासना के तरीक़ों का सवाल है। हम चाहे अलग हों किन्तु जहाँ देश का सवाल है वहाँ हम एक हैं। उर्दू के कवि इक़बाल ने क्या ही अच्छा कहा है:—

मज़हब नहीं सिखाता आपस में वैर रखना।
हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा॥

साम्प्रदायिकता की भाँति प्रान्तीयता और जातिभेद राष्ट्रीयता में बाधक है। हम यह नहीं कहते कि प्रान्त के लोग अपने प्रान्त से प्रेम न करें अथवा जातिभेद मिटजाय, जातिभेद रहे तो विवाह शादियों के लिए रहे किन्तु उसे राष्ट्र की एकता और उन्नत्ति में बाधक न होना चाहिए। मत देते समय योग्यतम व्यक्ति का ध्यान रखना चाहिए न कि यह कि अमुक व्यक्ति क्षत्रिय है या वैश्य अथवा कायस्थ, ब्राह्मण या शूद्र है अलग-अलग निर्वाचन भी भेद-भाव की खाई को बढ़ाते हैं किन्तु हमको इतना उदार होना

चाहिए कि सबको देश सेवा का अवसर मिल जाय। हमारी अनुदारता ही पृथक निर्वाचन क्षेत्रों के लिए उत्तरदायी है।

राष्ट्रीयता की दूसरी माँग है एक राष्ट्र भाषा। अंग्रेजी मे साहित्य और विज्ञान अच्छा है किन्तु उसे प्रान्तों के पारस्परिक विचार विनिमय का या शिक्षा का माध्यम बनाना दासता की मनोवृत्ति और अपने दिवालिए पन का परिचय देना है। राष्ट्र-भाषा ऐसी हो जिसमें साम्प्रदायिक भेद न्यूनातिन्यून होकर हमारे देश को संस्कृति की रक्षा हो। वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई पारसी सब लोगों के लिए सुलभ हो। हम अपना साहित्य प्रान्तीय भाषाओं मे रचें किन्तु राजनीतिक कार्य एक ही राष्ट्र भाषा में हों, लिपि चाहे दो रहे।

राष्ट्रीयता की तीसरी माँग है देश मे सुशासन की स्थापना। उसमे सबको उन्नति के समान अवसर रहें और न्यायोचित कार्य करने में किसी को बाधा न पड़े। इसके लिए आत्म संयम और सद्भावना के प्रचार की आवश्यकता है। शासन व्यवस्था में ईमानदारी का आना बहुत कुछ अपने हाथ में है। हम अपनी सुविधा के लिए अफ़सरों हाकिमों से कोई बेईमानी की बात न चाहें और न उसके लिए कोई अनुचित प्रलोभन दें।

जिन लोगों को सरकारी नौकर होकर देश की सेवा का सौभाग्य प्राप्त होवे वे अपने को वास्तव मे जनता के सेवक (Public Servants) समझें और ईमानदारी और सच्चरित्रता का आदर्श उपस्थित करें। जो लोग सरकारी नौकरी को या संस्थाओं की नौकरी को ईमानदारी से करते हैं वे सच्चे देशभक्त हैं, वे चाहे गाँधीटापी लगायें या न लगायें। लगायें तो वे अपने राष्ट्र-प्रेम का परिचय देंगे किन्तु राष्ट्र-प्रेम गाँधीटोपी या जवाहर वास्कट में नहीं है। ये तो बाहरी चिह्न हैं इनका आदर करना

चाहिए और अपनाना भी चाहिए किन्तु सच्ची राष्ट्रीयता राष्ट्र के गौरव बढ़ानेवाले कामों मे है। जो कोई नया वैज्ञानिक अनुसंधान करता है अथवा उच्च साहित्यिक पुस्तक लिखता है वह भी राष्ट्र का गौरव बढ़ाकर देश की सेवा करता है।

राजनीतिक उन्नति की अन्तिम माँग है विदेशी शासन को हटाकर उत्तरदायित्वपूर्ण प्रजातन्त्र राज्य की स्थापना। इस दिशा में भी पर्याप्त उन्नति हो चुकी है, विधान परिषद् नया विधान बनाने का काम कर रही है। साम्प्रदायिक भेदभाव को दूर करके उसके सफल बनाने मे सहायक होना प्रत्येक देशवासी का काम है। हम लोगों को ऐसा सुझाव दें कि जिससे सब सम्प्रदाय अपना व्यक्तित्व खोये विना और अपनी धार्मिक सुविधाओं की रक्षा करते हुए उसमें योग दे सकें। देशी राज्य भी अपनी राज सत्ताओं को स्थित रखकर उत्तरदायी शासन की स्थापना कर संघ में शामिल होकर राष्ट्र की शक्ति और सम्पन्नता बढ़ा सकते हैं।

स्वराज्य स्थापित हो जाने पर भी अपने संयम और आत्मबल द्वारा अपनी योग्यता प्रमाणित करना हमारा कर्तव्य रहेगा। वह स्वतन्त्रता किस काम को जिसमें शान्ति और सम्पन्नता न हो। देश को सम्पन्न, समृद्धशाली शान्त और बलवान बनाना प्रत्येक राष्ट्र सेवक का पुनीत कर्तव्य है। अन्त में हम रविबाबू की देश सम्बन्धी प्रार्थना का श्री कविरत्न सत्यनारायण द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद देकर इस प्रसङ्ग को समाप्त करेंगे।

भगवन्! मेरा देश जगाना।
स्वतन्त्रता के उसी स्वर्ग में, जहाँ क्लेश नहीं पाना॥
रुचे जहाँ मनको निर्भय हो, ऊँचा शीश उठाना।
मिले विना किसी भेद भाव के सबको ज्ञान-खजाना॥

तंग घरेलू दीवारों का बुना न ताना-बाना।
इसी लिए बच गया जहाँ का पृथक्-पृथक् हो जाना॥
सदा सत्य की गहराई से शब्दमात्र का आना।
पूरणता की ओर यत्न कर जहाँ भुजा फैलाना॥
विमल विवेक सुलभ श्रोते का जो रस पूर्ण सुहाना।
रूढि भयानक मरुस्थली में जहाँ नहीं छिप जाना॥
जहाँ उदारशील भावों का भावे नित अपनाना।
सच्चे कर्मयोग में प्रतिजन सीखे चित्त लगाना॥

विश्व-प्रेम और मानवता

'उदार चरितानांतुवसुधैव कुटुम्बकम्'

जहाँ दैन्य-जर्जर, अभाव-ज्वर पीड़ित
जीवन यापन हो न मनुज को गर्हित।
युग-युग के छाया-भावों से त्रासित
मानव प्रति मानव-मन हो न शंकित॥
मुक्त जहाँ मन की गति जीवन में रति
भव-मानवता में जन-जीवन परिणति।
संस्कृत वाणी भाव संस्कृत मन
सुन्दर हो जनवास वसन सुन्दर तन।

—सुमित्रानन्दन पन्त।

राष्ट्रीयता हमको प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता से ऊँची उठाती है किन्तु मानव के इस उत्थान में उससे भी ऊँची वस्तु है विश्व-प्रेम और मानवता। राष्ट्रीयता जहाँ हमको एक सूत्रता में बाँधती है, हमारे संकुचित स्वार्थों को दूर करती है वहाँ हमको कभी-कभी राष्ट्र राष्ट्र में भेद और पार्थक्य का पाठ पढ़ाकर हमको विश्व-व्यापी संघर्ष के वात्याचक्र मे घसीट ले जाती है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दबाकर रखना चाहता है और उस पर अपनी तथाकथित उच्चतर संस्कृति को लादने का प्रयत्न करता है। संस्कृति और सभ्यता का प्रसार स्वार्थ-साधन का दूसरा नाम है। उनके नाम से अपने देशवासियों को काम मिलता है

व्यापारियों को व्यापार मिलता है और राष्ट्र का प्रभुत्व और शक्ति बढ़ती है।

राष्ट्रीयता जहाँ तक पारस्परिक प्रेम-बन्धन का सूत्र है वहाँ तक सराहनीय गुण है किन्तु जहाँ वह दूसरे राष्ट्रों पर प्रभुत्व जमाने या उनके प्रति घृणा का प्रचार करने में सहायक होता है वहीं वह निन्दनीय हो जाता है।

आत्मा के विस्तार की सीमायें नहीं हैं। उसका वृत्त बढ़ता ही रहता है। व्यक्ति को केन्द्र बनाकर पहला वृत्त कुटुम्ब का है उसके बाद जाति या सम्प्रदाय का। आत्मा के अनन्त विस्तार का वहाँ पर अन्त नहीं हो जाता। सम्प्रदाय के पश्चात् देश आता है और देश के आगे सारा विश्व है।

आत्मा का संकोच और विस्तार मनुष्य की शिक्षा-दीक्षा पर निर्भर रहता है। संकुचित मनोवृत्ति के मनुष्य के लिए उसका निकटतम स्वार्थ ही सब कुछ है। उसको चुपड़ी और दो-दो मिलती रहे अन्य लोग चाहे भूखे मरें उसे कुछ नहीं। चाहे बङ्गाल का अकाल हो और चाहे क्वेटा का भूकम्प, उसकी सुख-निद्रा भङ्ग नहीं होती। बहुत से स्वार्थी लोग तो अपने बाल-बच्चों की भी परवाह नहीं करते। सद्‌गृहस्थ अपने बाल-बच्चों के स्वार्थ के हित अपनी भूख-प्यास को भूल जाता है। उदारता के सोपान में एक सीढ़ी वे ऊँचे चढ़े हुए हैं जो अपनी जाति-बिरादरी के हित में संलग्न रहते हैं। वे जाति विशेष के लोगों को ही अपना समझकर उनको हर तरह का उचित या अनुचित लाभ पहुँचाना चाहते हैं। कुछ लोग कुटुम्ब से ऊँचे उठकर सम्प्रदाय तक जाते हैं। उनके लिए देश चाहे परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा रहे किन्तु हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के

लिए अपने स्वार्थों का एक कण का भी बलिदान न करेंगे। एक तरफ़ हिन्दुत्व की रक्षा की पुकार उठती है तो दूसरी ओर इस्लाम ख़तरे में है—का नारा लगता है। वे लोग भी उदार हैं। हिन्दुत्व और इस्लाम के लिए अपने को क़ुरबान करने को तैयार रहते हैं अपने को ही क़ुरबान करने की बात नहीं रहती, वे धर्म की रक्षा के लिए दूसरों को भी बलिवेदी पर चढ़ाने में संकोच नहीं करते।

राष्ट्रीय लोग अपने धर्म मे दृढ़ रहते हुए भी (बहुत से क्या अधिकांश नहीं भी रहते किन्तु अपने धर्म की दृढ़ता और राष्ट्रीयता का विरोध नहीं है। महामना मालवीय जैसे कट्टर धर्म-निष्ट भी राष्ट्रीय थे) दूसरों के प्रति उदार रह सकते हैं। वे भारतीय पहले हैं साम्प्रदायिक पीछे। ऐसे उदारचरित—गान्धी, जवाहरलाल, मौलाना अब्दुलक़लाम आजाद, ख़ान अब्दुल-गफ्फ़ार ख़ाँ आदि अनेकों हैं जो राष्ट्र की दत्तचित्त होकर सेवा कर रहे हैं।

हमारे भारत में तो राष्ट्रीयता दूषित हद तक नहीं पहुँची है किन्तु पिछले महायुद्ध में जर्मनी, जापान, रूस, इङ्गलेण्ड, अमरीका सभी इस दूषित राष्ट्रीयता के चक्र में फँस कर एक दूसरे का गला घोंटने को तैयार हो गये थे। सभी न्याय और सभ्यता की दुहाई देते थे (इसमें कुछ लोग क्रूरता की सीमा को पार कर गये और कुछ थोड़ी-बहुत मर्यादा के भीतर रहे। मानवता का व्यवहार हमको सभी स्थानों मे करना चाहिए। मानवता का प्रारम्भ घर से हो किन्तु घर में सीमित न रहे। Charity begins at home but it should not end there.

हमारे कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के नाते घर के लोग सम्प्रदाय के लोग या देशवासी

भूखों मरें। जिनकी हम तक सहज पहुँच है जिन पर हमारा विशेष उत्तरदायित्व है उनकी अवहेलना करना पाप है। पारिवारिकता और सामाजिकता का समन्वय कठिन नहीं है। मनुष्य अपने परिवार की देख भाल और रक्षा करता हुआ भी समाज की और राष्ट्र की सेवा कर सकता है। मनुष्य को अपनी जाति और देश की सेवा अवश्य करना चाहिए किन्तु उस सेवा को वहीं तक सीमित नहीं रखना चाहिए।

मनुष्य राष्ट्रीय होकर भी दूसरे राष्ट्रों से अविरोध रख सकता है और किसी देश को अपने से नीचा न समझना और अपने देश की हानि न करते हुए उसके उत्थान में सहायक होना, यही राष्ट्रीय मानवता है।

राष्ट्रीय मानवता से पहले मनुष्य को वैयक्तिक मानवता का अभ्यास करना चाहिए जो मनुष्य अपने निकट वासियों के प्रति उदार नहीं है उसका दूर देशों के लोगों के प्रति उदार होना विडम्बना मात्र है। मानवता के कुछ लक्षण नीचे के श्लोक में दिये गये हैं, देखिए :—

ये दीनेषु दयालवः स्पृशति यानल्पोऽपि न श्रीमदो।
व्यग्रा ये च परोपकारकरणे हृष्यन्ति ये याचिताः॥
स्वस्था सन्ति च यौवन्मदमहाव्याधिप्रकोपेऽपि ये।
तैर्स्तंम्भैरिव सुस्थिरै किलभाग्क्रान्ता धरा धार्यते॥

अर्थात् जो दीनों के प्रति दयालु हैं और जिनको ज़रा-सा भी धन का मद स्पर्श नहीं करता है, जो लोग परोपकार करने के लिए व्यग्र रहते हैं और जो माँगे जाने पर प्रसन्न होते हैं। (याचक हमारे ऊपर उपकार करता है कि वह स्वयं हमको सेवा करने का अवसर देता है, वे लोग उनमें से नहीं होते जो कुछ माँगने पर

मुँह बना लेते हैं) जो कि यौवन-मद की महाव्याधि के प्रकोप होने पर भी स्वस्थ बने रहते हैं, उन्हीं सुदृढ़ स्तम्भों के सहारे यह भाराक्रान्त पृथ्वी सधी रहती है। विरले ही मनुष्यों में यह गुण होता है कि "जो परोपकार उत्साह के साथ करते हैं और जो उपकृत पर अहसान न जताकर उसके मान की रक्षा करते हैं। उदार वही है जो बिना माँगे टेर-बुलाकर दे और दूसरे की ग़रज को अपनी ग़रज समझे। जो परोपकार करके अभिमान न करे वही सच्चा वैष्णव है।

वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड़ पराई जाणे रे।
पर दुखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे॥

जो व्यक्ति इन गुणों का अनुशीलन अपने वैयक्तिक जीवन में करते हैं वे बड़े होने पर विस्तृत क्षेत्र में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में भी अपनी नैसर्गिक उदारता का परिचय देते हैं। दूसरी जातियों का उपकार करके भी उन पर प्रभुत्व की कामना न करना यही मानवता है। इसके लिए वह उदार दृष्टिकोण चाहिए जो प्राचीन वैदिक मनीषियों का था जो नित्य नीचे की प्रार्थना विश्व-कल्याण के लिए किया करते थे—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख भाग्भवेत्॥

मनुष्य का जितना वैज्ञानिक बल बढ़ा है युद्ध उतना ही अधिक संहारक हो गया है। कल के बल से वर्षों का कार्य घंटों में समाप्त हो जाता है। युद्ध की प्रचण्डज्वाला में दोनों ओर से धन-जन का स्वाहा होता है। देश का सारा उत्पादन कार्य जन संहार के निमित्त किया जाता है। युद्ध की विभीषिका के कारण कोई सुख की नींद नहीं सोने पाया है। यद्यपि युद्ध की प्रखर

ज्वालाएँ भारत से कुछ दूरी पर प्रज्वलित रहीं तथापि महार्घता के रूप में उनकी झुलस भारत को अब भी व्याकुल कर रही है।

जिन देशों में युद्ध का ताण्डव नृत्य हुआ है उनके हाहाकार और करुणा क्रन्दन से विश्व गूँज रहा है। कोई ऐसा घर न होगा जहाँ अपने प्रिय-जनों के लिए शोक न हो। शोक मनाने की भी किसी को फ़ुर्सत नहीं रही। श्री सियारामशरणजी ने अपने उन्मुक्त नाम के खण्ड-काव्य में एक काल्पनिक युद्ध का वर्णन करते हुए वर्तमान युद्ध के भीषण संहार का एक बड़ा हृदय-द्रावक चित्र खींचा है, देखिए:—

बरस पड़े विध्वंस पिण्ड सौ-सौ यानों से।
सुना सभी ने बधिर हुए जाते कानों से॥
उनका,—क्या मैं कहूँ—घोष-दुर्घोष भयङ्कर।
प्रेतों का-सा अट्टहास, शत-शत प्रलयङ्कर
उल्काओं का पतन वज्रपातों का तर्जन।
नीरव जिनके निकट—हुआ ऐसा कटु गर्जन॥
कुछ ही क्षण उपरान्त एक अर्द्धांश नगर का,
युग-युग का श्रम साध्य साधना फल वह नर का,
ध्वस्त दिखाई दिया। चिकित्सालय, विद्यालय,
पूजालय, गृह-भवन, कुटीरों के चय के चय।
गिरकर अपनी ध्वस्त चिताओं में थे जलते,
कहीं उजलते, कहीं सुलगते, धुआँ उगलते॥

इन रोमाञ्चकारी दृश्यों के अस्तित्व में भी युद्ध की शृङ्खला अटूट बनी हुई देखकर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या यह ध्वंस अनिवार्य है? क्या युद्ध जन समाज की, अदम्य आवश्यकता है? कोई भी इस ध्वंस के पक्ष मे नहीं हो सकता किन्तु

करना सभी को पड़ता है। जिन राष्ट्रों के पक्ष में नीति और न्याय है जो केवल आत्म-रक्षा के लिए ही युद्ध में शामिल हैं उनको भी नीति और न्याय की रक्षा के लिए जन-संहार का आश्रय लेना पड़ता है। नीति और न्याय की अन्तिम विजय अवश्य होती है, किन्तु उसके लिए जितना बलिदान और जन-संहार हो रहा है। क्या यह अनिवार्य है? क्या विश्व शान्ति का कोई उपाय है?

युद्ध रोकने के लिए जितने उपाय सोचे गये वे सब निष्फल हुए। राष्ट्र संघ की स्थापना हुई किन्तु उसका अधिकार किसी ने न माना। उसके अस्तित्व में आते ही उसके शासन से बाहर भागने का उद्योग हुआ। निःशस्त्रीकरण एक सुख स्वप्न ही रहा। इस सम्बन्ध मे यही कहना पड़ेगा कि मनुष्य का नैतिक विकास उसके बौद्धिक विकास के अनुपात मे ही नहीं हुआ है। साहित्य भी नीति की उपेक्षा करता है। साहित्य ने राष्ट्रीयता का प्रचार किया है अन्तर्राष्ट्रीयता का नहीं। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नेशनेलिज्म (Nationalism) आदि पुस्तकों मे अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष में अवश्य लिखा गया है किन्तु यह उद्योग समुद्र में बूँद की बराबर है। जो नीति वैयक्तिक सम्बन्ध में बरती जाती है वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध मे नहीं बरती जाती। शक्ति के कम करने की आवश्यकता नहीं वरन् उसके संतुलन की आवश्यकता है। संतुलन स्थापित करने के लिए बल प्रयोग अवश्य करना पड़ेगा किन्तु उसका आधार नीति और न्याय होना चाहिए। विजय के लिए पूरा प्रयत्न किया जाय किन्तु विजय प्राप्त होने पर दबे को इतना न दबाया जाय कि उसमें प्रतिक्रिया उत्पन्न हो। विजित के साथ उदारता का व्यवहार किया जाय, तभी विश्व मे शान्ति का स्वप्न देखा जा सकता है। जिन बन्धनों से विजित को बाँधा जाय उनका स्वयं न तिरस्कार किया जाय।

दानव की-सी शक्ति का होना बुरा नहीं किन्तु उसका दानवी प्रयोग न होना चाहिए। संहार की अपेक्षा रक्षा का अधिक महत्व है। मनुष्य में प्रभुत्व की भावना अवश्य है किन्तु आत्म-रक्षा की भावना उस से कम प्रबल नहीं है। संहार भी रक्षा के लिए होता है। रक्षा के कारण विष्णु भगवान को देवताओं में सर्वोच्च स्थान मिला है। क्षत या हानि से जो परित्राण करे वही सच्चा क्षत्रिय है। राष्ट्रों में सच्चे क्षत्रिय की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। इसके लिए सत् शिक्षा और सत् प्रचार की आवश्यकता है।

हमारा दृष्टिकोण राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए। राष्ट्रीयता वहीं तक क्षम्य है जहाँ तक कि अपने को दूसरे राष्ट्रों के बराबर लाने का प्रयत्न हो। अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार के लिए उन्नत राष्ट्रों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे पिछड़े हुए राष्ट्रों को अपने बराबर लाने में सहायक हों। दूसरों की कमजोरी दूर करना शक्तिशाली राष्ट्रों का धर्म है। कमजोर जब तक कमजोर रहेंगे तब तक वे दूसरों की राज्य-लिप्सा के केन्द्र बने रहेंगे और जब तक वह लिप्सा रहेगी तब तक विश्व शान्ति एक सुख स्वप्न ही रहेगी।

मनुष्य को अपने मनुष्य होने का गौरव होना चाहिए। मनुष्यता इस बात में नहीं कि हमने अपना या अपनों का कितना भला किया वरन् यह कि हमने दूसरों को कितना उठाया। गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा है:—

आपु आपु कहँ सब भलो, अपने कहँ कोइ कोइ।
तुलसी सब कहँ जो भलो, सुजन सराहिअ सोइ॥

दूसरों को उठाने से हम स्वयं भी उठेंगे और हमारा नैतिक मान बढ़ेगा। आजकल शक्ति की उपासना बेबसी की उपासना

करना सभी को पड़ता है। जिन राष्ट्रों के पक्ष में नीति और न्याय है जो केवल आत्म-रक्षा के लिए ही युद्ध में शामिल हैं उनको भी नीति और न्याय की रक्षा के लिए जन-संहार का आश्रय लेना पड़ता है। नीति और न्याय की अन्तिम विजय अवश्य होती है, किन्तु उसके लिए जितना बलिदान और जन-संहार हो रहा है। क्या यह अनिवार्य है? क्या विश्व शान्ति का कोई उपाय है?

युद्ध रोकने के लिए जितने उपाय सोचे गये वे सब निष्फल हुए। राष्ट्र संघ की स्थापना हुई किन्तु उसका अधिकार किसी ने न माना। उसके अस्तित्व में आते ही उसके शासन से बाहर भागने का उद्योग हुआ। निःशस्त्रीकरण एक सुख स्वप्न ही रहा। इस सम्बन्ध में यही कहना पड़ेगा कि मनुष्य का नैतिक विकास उसके बौद्धिक विकास के अनुपात में ही नहीं हुआ है। साहित्य भी नीति की उपेक्षा करता है। साहित्य ने राष्ट्रीयता का प्रचार किया है अन्तर्राष्ट्रीयता का नहीं। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नेशनेलिज्म (Nationalism) आदि पुस्तकों मे अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष में अवश्य लिखा गया है किन्तु यह उद्योग समुद्र में बूँद की बराबर है। जो नीति वैयक्तिक सम्बन्ध में वरती जाती है वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध मे नहीं वरती जाती। शक्ति के कम करने की आवश्यकता नहीं वरन् उसके संतुलन की आवश्यकता है। संतुलन स्थापित करने के लिए बल प्रयोग अवश्य करना पड़ेगा किन्तु उसका आधार नीति और न्याय होना चाहिए। विजय के लिए पूरा प्रयत्न किया जाय किन्तु विजय प्राप्त होने पर दबे को इतना न दबाया जाय कि उसमें प्रतिक्रिया उत्पन्न हो। विजित के साथ उदारता का व्यवहार किया जाय, तभी विश्व मे शान्ति का स्वप्न देखा जा सकता है। जिन बन्धनों से विजित को बाँधा जाय उनका स्वयं न तिरस्कार किया जाय।

दानव की-सी शक्ति का होना बुरा नहीं किन्तु उसका दानवी प्रयोग न होना चाहिए। संहार की अपेक्षा रक्षा का अधिक महत्व है। मनुष्य में प्रभुत्व की भावना अवश्य है किन्तु आत्म-रक्षा की भावना उस से कम प्रबल नहीं है। संहार भी रक्षा के लिए होता है। रक्षा के कारण विष्णु भगवान को देवताओं में सर्वोच्च स्थान मिला है। क्षत या हानि से जो परित्राण करे वही सच्चा क्षत्रिय है। राष्ट्रों में सच्चे क्षत्रिय की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। इसके लिए सत् शिक्षा और सत् प्रचार की आवश्यकता है।

हमारा दृष्टिकोण राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए। राष्ट्रीयता वहीं तक क्षम्य है जहाँ तक कि अपने को दूसरे राष्ट्रों के बराबर लाने का प्रयत्न हो। अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार के लिए उन्नत राष्ट्रों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे पिछड़े हुए राष्ट्रों को अपने बराबर लाने में सहायक हों। दूसरों की कमजोरी दूर करना शक्तिशाली राष्ट्रों का धर्म है। कमजोर जब तक कमजोर रहेंगे तब तक वे दूसरों की राज्य-लिप्सा के केन्द्र बने रहेंगे और जब तक वह लिप्सा रहेगी तब तक विश्व शान्ति एक सुख स्वप्न ही रहेगी।

मनुष्य को अपने मनुष्य होने का गौरव होना चाहिए। मनुष्यता इस बात में नहीं कि हमने अपना या अपनों का कितना भला किया वरन् यह कि हमने दूसरों को कितना उठाया। गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा है:—

आपु आपु कहँ सब भलो, अपने कहँ कोइ कोइ।
तुलसी सब कहँ जो भलो, सुजन सराहिअ सोइ॥

दूसरों को उठाने से हम स्वयं भी उठेंगे और हमारा नैतिक मान बढ़ेगा। आजकल शक्ति की उपासना बेवसी की उपासना

समझी जाती है। उसका नैतिक मूल्य नहीं होता। नीति की उपासना स्वातन्त्र्य की उपासना है। राष्ट्रों में भय की प्रीति न होकर प्रीति का भय होना चाहिए। संसार और भौतिक बल का संघर्ष तो जानवरों में होता है। मनुष्य जानवरों से इसीलिए ऊँचा है कि वह विना संहार के भी विज्ञान के सहारे उन्नति करता है। मनुष्य को अपना यह गौरव अक्षुण्ण रखना चाहिए। यदि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे उसी न्याय और नीति का व्यवहार होने लगे जिसका वैयक्तिक नीति मे होता है तो युद्ध अनिवार्य नहीं है। यदि न्याय की स्थापना के लिए संहार का आश्रय न लेकर पारस्परिक समझौते से काम लिया जाय तो मनुष्य जाति का गौरव स्थापित होगा। विज्ञान के चमत्कारों को यदि मानव हित सम्पादन के काम में लाया जायगा तो विज्ञान का नाम सार्थक होगा और मनुष्य अपने बुद्धिबल पर वास्तविक गर्व कर सकेगा।

मनुज का जीवन है अनमोल,
साधना है वह एक महान।
सभी निज संस्कृति के अनुकूल,
एक हो रचें राष्ट्र - उत्थान
इसलिये नहीं कि करें सशक्त,
निर्बलों को अपने में लीन—
इसलिये कि हों विश्व-हित-हेतु,
समुन्नति-पथ पर सब स्वाधीन॥